भारतीय दर्शन

(प्रश्नोत्तर रूप में)

लेखक :
राधेश्याम शर्मा



साहित्य भण्डार
शिक्षा साहित्य के मुद्रक एवं प्रकाशक

सुभाष बाजार, मेरठ-२५० ००२

भारतीय दर्शन प्रकाश

(आलोचनात्मक अध्ययन)

लेखक :

राधेश्याम शर्मा

एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत),

साहित्याचार्य, साहित्यरत्न

पूर्व अध्यक्ष संस्कृत विभाग

गंजडुण्डवारा महाविद्यालय, गंजडुण्डवारा (एटा)



साहित्य भण्डार

शिक्षा साहित्य के मुद्रक एवं प्रकाशक

सुभाष बाजार, मेरठ-२५० ००२

मूल्य : पन्द्रह रुपये [१५·००]

विषय-क्रम

भारतीय दर्शन प्रकाश

आलोचनात्मक अध्ययन

भारतीय दर्शन
(प्रमुख सामान्य प्रश्न)

प्रश्न १—भारतीय विभिन्न दर्शनों के सिद्धान्त एवं प्रतिपाद्य विषय का विवेचन करते हुये स्पष्ट कीजिये कि उनमें सबसे अधिक वैज्ञानिक एव समीचीन कौन है ?

दि० ८२, ८५, ८८, वन० ८१, ८३, ९०, आ० ८०, ९२ (Imp.)

समग्र नामरूपात्मक प्रपञ्च त्रिविध दुःखों से ओत-प्रोत है। जीवात्मा नाना प्रकार के कर्मों को भोगता हुआ आवागमन के चक्कर में ही लिप्त रहता है। अज्ञान के कारण वह अपने स्वरूप को पहचान नहीं पाता। यह त्रिगुणात्मिका माया दुस्त्याज्य है। जैसा कि भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव प्रपद्यन्ते मामायेतां तरन्ति ते॥

यही माया जीव को भ्रान्त कर देती है। स्वामी शंकराचार्य ने इसी का वर्णन इस प्रकार किया है—

अखण्डनित्याद्वयबोधशक्त्या,
स्फुरन्तमात्मानमनन्तवैभवम्।
समावृणोत्यावृतिशक्तिरेषा,
तमोमयी राहुरिवार्कबिम्बम्॥

आत्मा (ब्रह्म) के स्वरूप के ढक जाने पर संसारी जीव मोह में पड़कर शरीर को ही आत्मा मानने लगता है तथा जगत् को सत्य मानकर उसका उपभोग करता है और उसमें कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व की भावना आती है। इसी अविद्या, माया, अज्ञान से मुक्ति पाने के लिए वेद, उपनिषद, दर्शनों तथा पुराणादि में ज्ञान, कर्म, योग, उपासनादि रूप साधनों का विवेचन किया गया है। इसी विचारधारा ने नाना प्रकार के दर्शनों को जन्म दिया। यद्यपि वेदों में भी दार्शनिक विचारधारा है और वही सब दर्शनों का मूल है किन्तु परवर्ती दर्शनों और उनकी विचारधारा में बहुत अन्तर हो गया है। इसका मूल कारण वेदों का आशावाद है। दर्शनों में निराशावाद की झलक स्पष्टतः परिलक्षित होती है। इन सबका पृथक् रूप से विवेचन करते हैं—

दर्शन शब्द का अर्थ है 'देखना' अर्थात् उस परम सत्ता का साक्षात्कार करना है। यह दृश धातु से ल्युट् (अन्) प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। दर्शनों के द्वारा ही ज्ञान की उपलब्धि होती है। ये दर्शन-शास्त्र ही जीव को सार्वकालिक आनन्दमय रूप से दुःखों से निवृत्ति दिलाते हैं। भारतीय दर्शन का हमारे जीवन से अन्योन्याश्रित

सम्बन्ध है। दर्शनों का परमतत्व वह ब्रह्म ही है जो आत्मा रूप से नामरूपात्मक जगत् में अवस्थित है। इसकी उपलब्धि तर्क के द्वारा नहीं हो सकती है। वह श्रद्धा के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, जैसा कि कठोपनिषद् में कहा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

अतः इस संसार में धीर, ज्ञानी पुरुष विषय वासनाओं में लिप्त न होते हुए दर्शनों के मनन में लगे रहते हैं। किन्तु भोगी मनुष्य इसी को अपना सर्वस्व मानकर फसे रहते हैं। इसी को कठोपनिषद् में श्रेय और प्रेय दो रूपों में व्यक्त किया है—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ, संपरीत्य विविनक्तिधारः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते, प्रेयोमन्दो योग क्षेमाद् वृणीते॥

वस्तुतः ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है, इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रायः सभी दार्शनिकों ने किया है।

वेदों में दार्शनिक विचारधारा—यद्यपि वेदों को दार्शनिक ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनमें लौकिक और पारलौकिक दोनों ही विषयो का वर्णन है। वे दोनों प्रकार के ज्ञान के भण्डार हैं। वेदों की रचना अमानुषिक है। महर्षियों ने उनके मन्त्रों को रचा नहीं अपितु उनका साक्षात्कार किया। उन्हें अपनी निरन्तर तपस्या से उस तेजोमय स्वरूप के दर्शन हुए। यद्यपि वेदों में आशावादी दृष्टिकोण है फिर भी उस परम ज्योति की खोज की जिज्ञासा है। इस सृष्टि का अधिष्ठाता कौन है इसकी ओर उनका ध्यान प्रतीत होता है।

ऋग्वेद की निम्न ऋचा से यही तथ्य स्पष्ट होता है—

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव, यति वा दधे यदि वा न दधे।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्, सोअंग वेद यदि वा न वेद॥

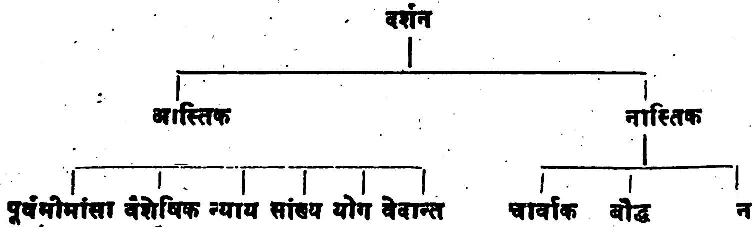
इस प्रकार विभिन्न स्थलों पर परमतत्व के जिज्ञासुओं का आत्मसमर्पण है। यद्यपि वेदों में किसी एक विषय का प्रतिपादन नहीं है, उसमें साक्षात् प्राप्त ज्ञान का ही सकलन है। इन्हीं का अन्तिम भाग उपनिषद् कहलाता है। उपनिषदों में ज्ञान का ही वर्णन है, उनका प्रतिपाद्य विषय दुःखों से मुक्ति तथा उस परम-ज्योति का साक्षात्कार करना है। सत्य को जानने की जिज्ञासा है। यथा—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

ब्राह्मण एव आरण्यक ग्रन्थों में भी ब्रह्म और आत्मा का वर्णन है और उनमें अभेद की स्थापना की गई है। फिर भी वेद, ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में विभिन्न देवताओं का ही प्राधान्य रहा है। किन्तु उपनिषदों में आत्मा या ब्रह्म तत्व की प्राथना है। यहाँ दृष्टव्य बात यह है कि उपनिषदादि सभी पवित्र ग्रन्थ वेदों के ही भाग हैं। सुविधा की दृष्टि से संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों में विभाजन

कर लिया गया है। उपनिषद् (उप+नि+षद्+क्विप्) का अर्थ है अविद्या का नाश कर ज्ञान की प्राप्ति करना। अर्थात् गुरुचरणों के समीप रहकर अपनी शंकाओं को विनष्ट कर ज्ञान की उपलब्धि करना। उपनिषदों की संख्या दस है। उपनिषदों में भिन्न-भिन्न स्तर से स्थूल और सूक्ष्म रूप में एक ही परमतत्व का प्रतिपादन किया गया है। इनमें सभी प्रकार के विचार हैं जो बाद में विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर विरुद्ध समझे जाने लगे किन्तु उपनिषदों में और इनमें कोई विरोध नहीं है। सभी का मानव हितार्थ समन्वय ही है। खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति उनमें नहीं है। फलस्वरूप प्रत्येक प्रकार के विचारों का भण्डार होने के कारण सभी भारतीय आस्तिक और नास्तिक दर्शनों का उद्गम इन्हीं से है।

भारतीय दर्शनों का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—



इनमें से कुछ दर्शनों की शाखा, उपशाखायें भी हैं। यद्यपि सबका दृष्टिकोण सुखोपलब्धि ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि कुछ मौलिकता को ही सब कुछ मानते हैं। जैसे—चार्वाक, बौद्ध और जैन ईश्वर को नहीं मानते हैं। बौद्धों ने तो आत्मा के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं किया है। वैशेषिक और मीमांसक आत्मा को मानते हैं किन्तु ईश्वर को नहीं। इन सबका लक्ष्य येन केन प्रकारेण दुःख की निवृत्ति है और विभिन्न मार्गों से उसी परमानन्द को प्राप्त करना ही लक्ष्य है, यथा—

त्रयी सांख्य योगः पशुपतिमत वैष्णवमिति,
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यं दृजुकुटिलनानापथजुषां,
नृणामेको गम्यस्त्वमस पयसामर्णव इव॥

चार्वाक-दर्शन—"मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्नाः" के अनुसार प्रत्येक मानव अपनी-अपनी विचारधारा का अस्तित्व रखता है और अपनी रुचि के अनुसार किसी को किसी वस्तु तथा अन्य को दूसरी वस्तु से आनन्द की प्राप्ति होती है जो परस्पर विरोधी भी हो सकता है, कोई सूक्ष्मता को प्रमुखता देता है, कोई स्थूलता को, स्थूल दृष्टि वाला दर्शन ही चार्वाक-दर्शन है। इसके आदि प्रवर्त्तक बृहस्पति माने जाते हैं। शुक्राचार्य की अनुपस्थिति में इन्होंने राक्षसों को इस भौतिक दर्शन का उपदेश दिया जो शरीर को ही आत्मा मानता है। वही इसका इष्ट है। चार्वाक का अर्थ है (चारु

वाक्) मधुर वचन वाला मत। किन्तु इसका दूसरा अर्थ है चबाने के लिए तैयार रहने वाला। राहुल सांस्कृत्यायन ने यही अर्थ किया है। इस संसार में भोग ही सर्वस्व है। इसके अनुसार जीवन में भोग त्याज्य नहीं, ग्राह्य है। इसका प्रचार कब से हुआ, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता, किन्तु अन्य दर्शनों की अपेक्षा यह प्राचीनतम है। ऋग्वेद में इसका वर्णन है। उपनिषदों में भी इस भौतिकवाद का उल्लेख है। याज्ञवल्क्य ने इसी का उपदेश अपनी पत्नी को दिया था। महाभारत में 'देहात्मवाद' का उल्लेख है। वाल्मीकि रामायण में भी लोकायतिकों का वर्णन है जो स्थूल शरीर को ही आत्मा मानते थे। इस दर्शन को 'बाह्य लोकायत' तथा 'लोकायतिक' भी कहते हैं। इसकी विचारधारा निम्न हैं—

१—पृथिवी, जल, तेज (अग्नि) तथा वायु ये ही चार भूत हैं, इनके संघटन से ही सृष्टि का निर्माण हुआ है। इन्हीं से चेतना (जीव), मन, इन्द्रिय आदि की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार कत्था, चूना, पान, सुपारी अलग-अलग होते हुए भी मुँह में एक रंग लाल देते हैं। उसी प्रकार ये चारों तत्व मिलकर चैतन्यादि को उत्पन्न करते हैं। आकाश को इन्होंने नहीं माना।

२—इनके यहाँ ईश्वर या आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। चैतन्ययुक्त स्थूल शरीर ही आत्मा है। स्वर्गादि की कल्पना को मूर्खों की सृष्टि बताया गया है। परलोकादि की कोई सत्ता नहीं मानते हैं। विश्व की सृष्टि स्वभाव से ही हुई है। इसका कोई कर्त्ता नहीं है।

३—इन्होंने निराशा तथा विराग की भावना का खण्डन किया है। विषय-भोग से उत्पन्न होने वाले सुख, दुःख के कारण हेय हैं, ऐसा मानना मूर्खता का ही द्योतक है। अतः अर्थ और काम दोनों ही पुरुषार्थ हैं।

४—यज्ञ, स्वर्ग, नरक, जप, तप, आदि मिथ्या विश्वास हैं, जो मानव को इहलौकिक सुखों से विलग कर संकट में डाल देते हैं। मरने के बाद क्या होगा? किसी को पता नहीं। अतः पुनर्जन्मादि की कल्पना व्यर्थ है। मरण ही मोक्ष है। अतः विषयों का संसर्ग कर आनन्दमय जीवन बिताना चाहिये।

यावत् जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।

५—इस दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण को ही माना गया है, क्योंकि जो प्रत्यक्ष है, वही सत्य है। अतः पृथिवी, जल, वायु, अग्नि ये ही चारों प्रमेय माने हैं।

६—आत्मा के स्थान पर इन्होंने क्रमशः इन्द्रिय-पुत्रादि को ही आत्मा स्वीकार किया है जो निम्न श्रुतियों से स्पष्ट है—

(१) आत्मा वैजायते पुत्रः। (२) चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः। (३) स एष एष अन्तरसमय पुरुषः। (४) ते हि प्राणाः प्रजापति पितरं प्रेत्य ऊचु। (५) अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। (६) अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः।

इस प्रकार चार्वाक दर्शन ने इस स्थूल शरीर को ही प्रमुखता दी है। यद्यपि ये स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर अग्रसर हुए हैं, किन्तु भूतों तक ही सीमित रहे हैं। इसका अपना एक स्वतन्त्र स्थान है। इस दर्शन का मुख्य लक्ष्य **'खाओ, पिओ, मौज उड़ाओ'** है।

"Eat, drink and be merry."

जैन दर्शन की विचारधारा—चार्वाक के समान जैन भी ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते। किन्तु इन्होंने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है। इनकी आत्मा अलौकिक गुणों से युक्त होने पर भी भौतिकता से सम्बन्धित है। जैन दर्शन की आत्मा 'परिणामी' तथा भूतों के गुणों में सम्पन्न है। जीव को शरीरधारी होने के कारण 'अस्तिकाय' कहा है। यद्यपि यह दर्शन भी नास्तिक है, किन्तु आस्तिक दर्शनों से प्रभावित है। दुःखों की शाश्वत निवृत्ति इसका परम लक्ष्य है। साधन, तप, शुद्धतादि को इन्होंने स्वीकार किया है। ये तीन रत्न हैं—

१—सम्यक् दर्शन, २—सम्यक् ज्ञान, ३—सम्यक् चरित्र।

जैन सिद्धान्त के आदि प्रवर्त्तक स्वामी ऋषभदेव माने जाते हैं। इसी परम्परा में स्वामी महावीर का नाम आता है। इनके कुल २४ तीर्थङ्कर हैं। महावीर इनके अन्तिम महापुरुष हैं। इन्होंने कठोर तपस्या कर ज्ञान की प्राप्ति के लिए अहिंसा, अस्तेय, त्याग, सत्य-ग्रहण, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का उपदेश दिया, इसी परम्परा में आगे चलकर अनेकान्तवादी स्याद्वाद का विकास हुआ। वस्तु में अनन्त धर्म होने पर भी जैनों ने उसमें सात प्रकार की सम्भावना की। यही उनका 'सप्त मंगीनय' है जो स्याद्वाद के नाम से प्रसिद्ध है। ये इस प्रकार हैं—

१—स्यात् अस्ति, २—स्यात् नास्ति, ३—स्यात् अस्ति च नास्ति च, ४—स्यात् अवक्तव्यम्, ५—स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम्, ६—स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम्, ७—स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम्।

जैन दर्शन के श्वेताम्बर और दिगम्बर दो भेद हैं। इन दोनों शाखाओं में दर्शन सम्बन्धी विशेष भेद नहीं है, केवल आचार सम्बन्धी भिन्नता है। इनके दर्शन में दो, पाँच, सात तथा नौ तत्वों के भेद बताये हैं, जिनमें दो ही प्रमुख हैं—

(१) जीव, (२) अजीव।

जीव—आत्मा या चेतन तत्व ही जीव है। इसमें प्राण हैं। इसमें पाँच भाव होते हैं। भावदशापन्न जीव ही पुद्गल के रूप में व्यक्त होकर, 'संसारी' कहलाता है। इसकी सभी क्रियायें कर्मों के फलानुसार होती हैं। स्वभावतः यह शुद्ध ज्ञान तथा दर्शन से युक्त है। अनादि अविद्या के कारण कर्म बन्धन में लिप्त रहता है। यह नित्य परिणामी है। शरीरों से युक्त होने के कारण यह अस्तिकाय कहलाता है। काल के प्रभाव से इसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। इसके प्रमुख दो गुण हैं—चेतना या अनुभूति तथा उपयोग। दिव्य, मानुष, नारकीय तथा तिर्यक ये चार जीव के

परिणाम हैं, जिसे पर्याय कहते हैं। साधारणतः बद्ध और मुक्त के भेद से जीव दो प्रकार का होता है। बद्धजीव स्थावर और जंगम भेद से दो प्रकार का होता है।

अजीव तत्व—यह अजीव तत्व बहुत व्यापक होता है। इसमें अनेक प्रदेश होते हैं। इनके पाँच भेद हैं—

(१) धर्म—विश्वव्यापी एक चालक तत्व है, जिसका अनुमान गति (प्रवृत्ति) से होता है।

(२) अधर्म—एक विश्वव्यापी रोधक तत्व है। गतिहीनता से इसका अनुमान होता है।

(३) पुद्गल—बौद्धों में पुद्गल जीव को कहते हैं। किन्तु जैनों का पुद्गल उससे भिन्न है। यह भौतिक तत्व स्पर्श, रस तथा वर्ण तीनों गुणों से युक्त है। इसके दो भेद हैं—

अणु-पुद्गल तथा स्कंध पुद्गल।

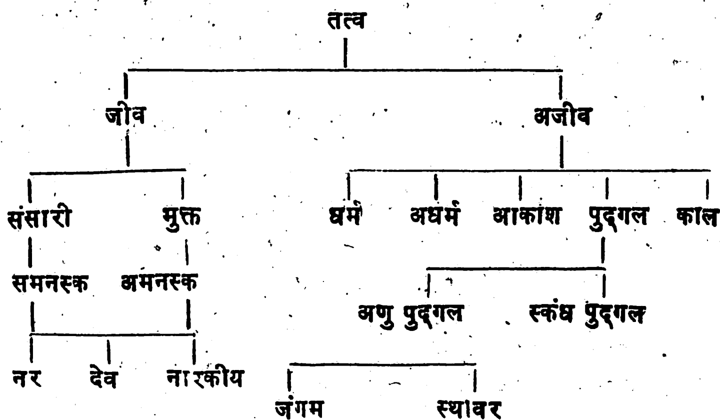
(४) आकाश—यह भी पञ्च अस्तिकाय में एक है। यह आकाश संसारी जीवों के लोक से परे मुक्त जीवों के लोक तक फैला हुआ है। यह भावात्मक द्रव्य है।

(५) काल—यह 'अस्तिकाय' नहीं होता है। इसे समय भी कहते हैं। पुद्गल इसी के अनुसार भ्रमण करता रहता है। यह अणु-अणु में व्याप्त है।

सात तत्व निम्न प्रकार हैं—

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जर, मोक्ष।

दुःख के त्याग और अनन्त सुख की प्राप्ति के लिए मोक्ष की गति है जो ज्ञान, श्रद्धा और चरित्र की उदात्तता के कारण ही उपलब्ध हो सकती है। इस दर्शन ने धर्म-अधर्म को ही विशेष महत्व दिया है। यह सृष्टि ऊर्ध्व, मध्य और अधः तीनों लोकों में कर्मानुसार व्याप्त है जो क्रमशः देव, मानव और नारकीय जीवों का निवास स्थान है। जैनों का दर्शन-विभाग निम्न प्रकार दिखाया जा सकता है। उनके प्रमुख तत्व ये हैं—



जैन दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द तीन प्रमाणों का विवेचन है।

बौद्ध-दर्शन की विचारधारा—इस धर्म के प्रवर्त्तक भगवान गौतम बुद्ध थे। ये भौतिकवाद और आत्मवाद दोनों के ही विरोधी थे। इनका सिद्धान्त दर्शन के रूप में बाद में आया। बुद्ध ने इस संसार को दुःख से परिपूर्ण समझ उसके कारण अविद्या की खोज की तथा निर्वाण प्राप्ति के लिये कठोर तप किया। इनके अनुसार चार 'आर्य सत्य' हैं। इनको जानने पर ही तत्त्व ज्ञान हो सकता है—

(१) सर्वं दुःखम्, (२) दुःखसमुदय, (3) दुःखनिरोध, (४) दुःखनिरोध-गामिनीप्रतिपद्।

अविद्या के कारण ही मनुष्य को नाना प्रकार के क्लेश भोगने पड़ते हैं। उसी के कारण उसकी कामनायें एक के बाद एक बढ़ती जाती हैं, जिनेका अन्त नहीं होता है। इस प्रकार कार्य-कारण की परम्परा बारह स्वरूपों में व्यक्त होती है, जिनका अन्तर्भाव चार आर्य सत्यों में ही हो जाता है। यही संसार-चक्र है। अतः इस दुःख का निरोध आवश्यक है, तभी जीव इससे मुक्त हो सकता है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिये उन्होंने अष्टांग मार्ग का उपदेश दिया।

(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वाक्, (४) सम्यक् कर्म, (५) सम्यक् आजीव, (७) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति, (८) सम्यक् समाधि।

इन नियमों का पालन करते हुये साधक को श्रावक, प्रत्येक बुद्ध तथा बोधि-सत्त्व की तीन अवस्थायें पार करनी होती हैं और अन्त में बुद्धत्व की उपलब्धि हो जाती है। भगवान् बुद्ध के निर्वाण के बाद इसमें दार्शनिकता का अधिक पुट लगा और उसके चार दार्शनिक समुदाय हो गये। प्रारम्भ में इनके दो प्रधान भेद हुये थे। (१) महासाधिक, (२) स्थविरवाद। आगे चलकर इनमें महायान और हीनयान दो सम्प्रदाय चल पड़े। कुछ भी हो इनकी विचारधारा उपर्युक्त चार सम्प्रदायों में अभिव्यञ्जित हुई जो हीनयान और महायान के ही भेद थे। स्थविरवाद का प्रमुख भेद सर्वास्तिवाद था।

(१) महायान—(क) विज्ञानवाद या योगाचार, (ख) माध्यमिक या शून्य-वाद।

(२) हीनयान—(क) वैज्ञानिक, (ख) सौत्रान्तिक।

हीनयान में चार भूमियाँ मानी गई हैं, और महायान में दस भूमियाँ मानी गई हैं। हीनयानों की अन्तिम दशा अर्हत् पद तथा महायानों की बोधिसत्त्व है।

इनके छोटे-छोटे संघ बने हुये थे। जहाँ आध्यात्मिक चर्चा होती थी तथा बुद्ध के उपदेशों का मनन तथा प्रसार करना भी इनका परम लक्ष्य था।

'महासाधिक' और 'स्थविरवाद' सम्प्रदाय भविष्य में लुप्त हो गये तथा 'महायान' और 'हीनयान' के रूप में बौद्ध मत ने दर्शन क्षेत्र में प्रवेश किया। इनकी

चार शाखायें हुयीं जिनका ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। इन्हीं का संक्षेप में वर्णन करते हैं—

(१) **वैभाषिक मत**—इन्द्रिय अनुभव जन्य जगत् की बाह्य सत्ता है जिसका ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान से होता है। जगत् एवं चित्तसन्तति की पृथक्-पृथक् सत्ता है जो प्रतिक्षण परिवर्तित होती है। अतः इसको क्षणभंगवाद भी कहते हैं। यद्यपि इस क्षणभंगुरता के सिद्धान्त को सभी बौद्धों ने स्वीकार किया है।

(२) **सौत्रान्त्रिक**—इनके अनुसार बाह्यसत्तों का ज्ञान इन्द्रियों अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं होता है। चित्त में आकार की कल्पना इन्होंने नहीं मानी है। किन्तु बाह्य जगत् के आकारों का चित्त में लय-विलय होता रहता है। बाह्य सत्ता का परिचय अनुमान के द्वारा उपलब्ध होता है।

इस प्रकार इन दोनों में चित्त की निरपेक्षता और सापेक्षता का अन्तर है।

(३) **योगाचार या विज्ञानवाद**—इन्होंने बाह्य सत्ता को नहीं माना अपितु चित्त में अनेक विद्वानों की प्रसूति होती रहती है। ये स्वप्रकाश हैं किन्तु अविद्या के कारण ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की कल्पना कर ली जाती है। यह विज्ञान क्षणिक है।

(४) **माध्यमिक या शून्यवाद**—इन्होंने बाह्य तथा आभ्यन्तर सत्ताओं का विलयन शून्य में कर दिया है। यह शून्य इन्द्रियातीत है। यह सत्-असत् दोनों से ही विलक्षण है। अविद्या के कारण इस शून्य से ही सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि होती है। इनका यह शून्य अभावात्मक नहीं है। यही परम तत्व है जो इस शून्य को समझ लेता है वही निर्वाण प्राप्त कर लेता है। नागार्जुन ने इसकी महानता इस प्रकार व्यक्त की है—

प्रभवति च शून्यतेयं यस्य प्रभवन्ति तस्य सर्वार्थाः।
प्रभवति न तस्य किंचित् न भवति शून्यता यस्य ॥

अन्तिम लक्ष्य निर्वाण ही है। यह स्वतन्त्र, सत तथा नित्य है। यह ज्ञान का आधार है, सर्वोपरि है, सभी बाह्य भेद इसी में विलीन हो जाते हैं।

बौद्धों ने सम्यक् ज्ञान को ही प्रमाण माना है। ये प्रमाण 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' भेद से दो प्रकार के हैं। कल्पना तथा भ्रम से शून्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। स्वार्थ और पदार्थ की दृष्टि से अनुमान दो प्रकार का होता है।

बौद्ध दर्शन का भी प्रमुख उद्देश्य सांसारिक त्रिविधि दुःखों की सार्वकालिक निवृत्ति ही है। इस दुःख के निराकरण के लिये जिवासा उत्पन्न होती है। नागार्जुन का शून्यवाद शंकर के अद्वैत से अभिन्न प्रतीत होता है। दोनों का लक्ष्य परमानन्द में विलीन होना है। जो अवर्णनीय है। शंकर ने माया को शून्य के स्थान पर ग्रहण किया है। इसलिये कुछ आलोचकों ने स्वामी शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा है। उनके अनुयायियों के विषय में 'परांकुशदास' की आलोचना दृष्टव्य है—

वेदोऽनृतो बुद्धकृतागमोऽनृतः,
प्रामाण्यमेतस्य च तस्य चानृतम्।

बौद्धाऽनृतो बुद्धिफले तथाऽनृते,
यूयं च बौद्धाश्च समानसंसदः ॥

न्यायदर्शन की विचारधारा—न्यायशास्त्र के दो भेद हैं। प्राचीन और नव्य। परम तत्व की प्राप्ति में तर्क का स्थान भी आवश्यक है। क्योंकि बिना तर्क के बुद्धि का विकास नहीं होता है और बिना मनन के आत्मज्ञान नहीं होता है। अतः अज्ञान से छुटकारा पाने और निःश्रेयस की उपलब्धि के लिये तर्क (न्याय) का बोध वांछनीय है प्राचीन और नव्य दोनों ही तर्क प्रधान हैं। किन्तु प्राचीन न्याय का मुख्य लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति करना था और नवीन का ध्येय शुष्क तर्क ही रहा। उन्होंने परम लक्ष्य मुक्ति की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। इस प्रकार साधन साध्य बन गया। न्यायशास्त्र के आदि प्रवर्त्तक मेधातिथि गौतम थे। इन्हीं को अक्षपाद कहा जाता था। नव्य न्याय का प्रारम्भ गंगेश उपाध्याय ने किया। तत्वचिन्तामणि नव्य न्याय आदि ग्रन्थ है। गौतम के न्यायसूत्र में सर्वप्रथम १६ पदार्थों का वर्णन है। इन्हीं के ज्ञान से निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। ये १२ पदार्थ निम्न हैं—

(१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टान्त, (६) सिद्धान्त, (७) अवयव, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितण्डा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति, (१६) निग्रह।

न्यायशास्त्र में चार प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान स्वीकार किये गये हैं। इनके द्वारा ही प्रमेयों का यथार्थ ज्ञान होता है। प्रमेयों की संख्या १२ है—

(१) आत्मा, (२) शरीर, (३) इन्द्रिय, (४) अर्थ, (५) बुद्धि, (६) मन, (७) प्रवृत्ति, (८) दोष, (९) प्रेत्यभाव, (१०) फल, (११) दुःख, (१२) अपवर्ग।

नैयायिकों ने आत्मा और ईश्वर दोनों के अस्तित्व को स्वीकार किया है। वह सभी का दृष्टा, भोक्ता, सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक है। आत्मा की सिद्धि उन्होंने अनुमान से की है। मुक्त होने पर भी जीवात्मा अनेक रूपों में रहता है। इनके मत में आत्मा जड़ तथा अचेतन है। मन के विशेष संयोग से उसमें ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान आत्मा का आगन्तुक धर्म है। आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाता है। वह नित्य है। अच्छे और बुरे कर्मों का फल आत्मा को भोगना पड़ता है। ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि जीवात्मा के धर्म हैं। 'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगम्'। यह जीवात्मा जब इक्कीस प्रकार के दुःख और उनके कारणों से छुटकारा पा जाता है तभी उसका अपवर्ग हो जाता है। इन १२ प्रमेयों के ज्ञान के लिये संशयादि १४ पदार्थों का ज्ञान परमावश्यक है।

न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष प्रमाण के निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दो भेद किये गये हैं। अनुमान के तीन भेद हैं—अन्वय, व्यतिरेक, अन्वयव्यतिरेक। इनका विस्तृत विवेचन पृथक् रूप से किया जा चुका है।

अन्य दर्शनों के समान ही कार्य-कारण भाव न्याय दर्शन का भी प्रतिपाद्य विषय है। छान्दोग्य उपनिषद् में एक मन्त्र इस प्रकार दिया हुआ है—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, तद्धैक आहुः।
सदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् तस्मादसतः सज्जायत ॥

यहाँ कुछ आचार्यों ने असत् से, दूसरों ने सत् से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है और इसी आधार पर यह प्रश्न विवादास्पद हो गया। न्याय दर्शन के अनुसार कार्य-कारण में भेद है। दोनों से एक पृथक् हैं। उत्पन्न होने से पूर्व भी कार्य का कारण में अभाव रहता है और नाश होने पर भी। समवाय-सम्बन्ध से ही वह कारण में विद्यमान रहता है। यह सम्बन्ध नित्य है और इस प्रकार कार्य-कारण में भेद मानकर असत् से सत् की उत्पत्ति कहते हैं। यही इनकी असत्कार्यवादी विचारधारा है। समवायि, असमवायि तथा निमित्त भेद से कारण तीन प्रकार का होता है। कार्य सर्वदा अपने समवायि कारण में रहता है। यह दोनों का स्वाभाविक सम्बन्ध है। इसलिये सूत से पट और मिट्टी से घड़ा बनता है।

न्याय के अनुसार सृष्टि और प्रलय ईश्वर की इच्छा पर निर्भर हैं। ईश्वर की सिद्धि नैयायिक शब्द और अनुमान से करते हैं यद्यपि न्यायसूत्रों में ईश्वर का विवेचन सन्देहास्पद ही हुआ है। परन्तु बाद में कुछ आचार्यों ने ईश्वर सिद्धि कर इसे अनीश्वरवादी दर्शनों की कोटि से बचा लिया है। न्याय-दर्शन में जीवात्मा और परमात्मा में कोई सम्बन्ध नहीं है।

वैशेषिक दर्शन की विचारधारा—इस दर्शन के आदि प्रवर्त्तक 'कणाद' या 'कणभक्ष' थे। इनके जीवन के विषय में अन्य दार्शनिकों के समान कुछ ज्ञात नहीं है। इन्होंने सूत्र में "वैशेषिक-दर्शन" की रचना की। इसके ऊपर कई विद्वानों ने भाष्य लिखे। छठी सदी से पूर्व 'प्रशस्तपाद' नाम के एक मेधावी विद्वान् ने "पदार्थ-धर्म संग्रह" नाम का एक ग्रन्थ लिखा जो अपने में सर्वाङ्गीण है। इस पर ही अनेक टीकायें लिखी गई हैं। वैशेषिक-दर्शन की न्याय-दर्शन से अधिक समता है। कुछ सिद्धान्तों में ही मतभेद है। सृष्टि के सभी तथ्यों को न्याय और वैशेषिक ने समान रूप में स्वीकार किया है। फिर भी न्याय की अपेक्षा वैशेषिक का चिन्तन सूक्ष्मतर है। न्याय में प्रमाणों का अधिक विवेचन हुआ है जबकि इसमें प्रमेयों का विश्लेषण विस्तृत ढंग से हुआ है। इस दृष्टि से वैशेषिक का महत्व अधिक है। वैशेषिकों ने विशेष पदार्थ को माना है और इसी आधार पर इनका नामकरण वैशेषिक हुआ। अन्य दर्शनों में इस पदार्थ का उल्लेख नहीं हुआ है। इस सम्बन्ध में निम्नोक्ति द्रष्टव्य है—

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै 'वैशेषिकं' विदुः ॥

इसको औलूक्य दर्शन भी कहते हैं।

वैशेषिक दर्शन में विश्व के तत्वों को सात पदार्थों में विभाजित किया है—
(१ **द्रव्य**, (२) **गुण**, (३) **कर्म**, (४) **सामान्य**, (५) **विशेष**, (६) **समवाय**, (७) **अभाव**।

(१) **द्रव्य—'गुणोश्रयो द्रव्यम्'** कणाद के अनुसार द्रव्य गुणों का आधार है और यह अपने कार्य का समवायिकारण होता है। इन द्रव्यों की संख्या ९ है—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन। इनमें पहले चार अभौतिक तत्व हैं। ये अपने मूलरूप में अत्यन्त सूक्ष्म और अविभाज्य हैं और अनेक परमाणु से मिलकर बने हैं। आकाश, काल, दिशा, आत्मा भी नित्य, अभौतिक तथा सर्वत्र व्यापी तत्व है। मन भी अभौतिक तथा नित्य है। प्रथम चार कार्य रूप में अनित्य हैं, परन्तु कारण (परमाणु) रूप में नित्य हैं।

(२) **गुण**—'गुण' को कार्य का असमवायिकारण माना गया है। कणाद ने ११ गुण माने हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व।

किन्तु बाद के आचार्यों ने इनकी २४ संख्या मानी है।

(३) **कर्म**—क्रिया (गति) को कर्म कहा गया है। यह पाँच प्रकार का होता है—उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण, गमन।

(४) **सामान्य**—अनेक द्रव्यों में रहने वाला पदार्थ 'सामान्य' या जाति कहलाता है। जैसे अश्व में अश्वत्व, मनुष्य में मनुष्यत्व, यह अनेक अश्वों, मनुष्यों में रहने वाला सामान्य पदार्थ है। यह नित्य है। क्योंकि अश्वादि नष्ट हो सकते हैं किन्तु अश्वत्वादि नष्ट नहीं होता है।

(५) **विशेष**—परमाणुओं (पृथिवी, जल, वायु, अग्नि के सूक्ष्मतर अवयव) में जो एक दूसरे से भेद है, उसे विशेष कहते हैं। यह नित्य द्रव्यों का भेद करने वाला है और स्वयं नित्य तथा अनन्त है।

(६) **समवाय**—वस्तुओं के बीच में जो नित्य सम्बन्ध है, उसे समवाय कहते हैं। यह अवयव, अवयवी क्रिया, क्रियावान्, जाति, व्यक्ति, विशेष और नित्य द्रव्य में व्याप्त है। यह भी नित्य है।

(७) **अभाव**—असत् अविद्यमान को अभाव कहते हैं। यह गुण और क्रिया से रहित है। यह चार प्रकार का होता है—

(१) **प्राग-अभाव**, (२) **ध्वंस-अभाव**, (३) **अन्योन्य-अभाव**, (४) **अनन्यताभाव**। जैसे—**आकाशकुसुम**।

प्रलयावस्था में सभी कार्य नष्ट होकर परमाणु रूप में आकाश में भ्रमण करते रहते हैं। इस समय जीवात्मा अपने कर्मानुसार अदृष्ट रूप में विद्यमान रहती है। यह अदृष्ट जड़ है, शरीर की अनुपस्थिति में आत्मा निष्क्रिय रहती है। परमात्मा के द्वारा इन जड़ परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न हो जाती है और सृष्टि का विकास

होता है। परमाणु समवायिकारण उनका संयोग असमवायिकारण तथा अदृष्ट, ईश्वर की इच्छा आदि निमित्त कारण हैं। विजातीय परमाणुओं से सृष्टि होती है। ज्ञान के अधिकरण (कोश) को आत्मा कहते हैं। जीवित अवस्था में गति मृतावस्था में अगति होने से आत्मा का अस्तित्व स्पष्ट हो जाता है। 'मैं' से आत्मा की सत्ता प्रत्यक्ष हो जाती है। किन्तु सबके सुख, दुःख, ज्ञानादि के अलग-अलग होने से आत्मा की अनेकता भी स्पष्ट हो जाती है।

वैशेषिक दर्शन में बुद्धि के दो भेद किये गये हैं—(१) मिथ्याज्ञान (अविद्या), (२) शुद्ध ज्ञान (विद्या)। अविद्या— संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, स्वप्न भेद से चार प्रकार की होती है।

विद्या—प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति और आर्ष भेद से चार प्रकार की होती है। इस दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण माने गये हैं। न्याय के उपमान का प्रत्यक्ष में, शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव हो जाता है। इन्होंने 'चाक्षुष' प्रत्यक्ष को ही स्वीकार किया है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि न्याय और वैशेषिक में किन्हीं बातों में समानता है। वे दोनों व्यवहारिक जगत् को ही महत्ता देते हैं। वैशेषिक सूक्ष्मता की ओर अग्रसर हुआ है। इस दर्शन में ईश्वर का वर्णन कणादि ने नहीं किया है। इन्द्रियों और मन की सहायता से ज्ञान पाने वाली आत्मायें अनेक हैं। उनके कर्मों का फल अदृष्ट देता है। यह अदृष्ट पुण्य और पापों का संस्कार है। किन्तु बाद के आचार्यों ने ईश्वर या परमात्मा की कल्पना की है। वस्तुतः अदृष्ट को स्वीकार करने वाले कणाद को ईश्वर की कहीं आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई।

मीमांसा दर्शन की विचारधारा— मीमांसा शास्त्र में दर्शन की अपेक्षा धर्म का अधिक विवेचन किया गया है। किन्तु धर्म का विश्लेषण भी दर्शन का विषय होने के कारण मीमांसा भी दर्शन शास्त्र कहलाने योग्य है। जब बौद्धों ने वेद कर्म-काण्ड तथा यज्ञादि पर कड़ा आघात किया, ब्राह्मण धर्म समूल उखाड़ना चाहा, उस समय उसकी रक्षा के लिये मीमांसा का निर्माण हुआ। वेदों को अपौरुषेय मानकर उन्होंने उनको स्वतः प्रमाण सिद्ध किया। इन्होने बौद्धों की आलोचना की, उनका खण्डन किया। इनका प्रमुख लक्ष्य स्वर्ग प्राप्ति है। यह लौकिक दृष्टिकोण की चरम-अवधि है। यह दर्शन किन्हीं बातों में वैशेषिक से समानता रखता है। जैमिनी यद्यपि इसके आदि प्रवर्तक नहीं हैं फिर भी इनके शास्त्र का महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें १२ अध्याय हैं जो २५० सूत्रों से युक्त हैं। कुमारिल भट्ट ने इस ग्रन्थ पर महत्वपूर्ण व्याख्यायें कीं। प्रभाकर गुरु तथा मुरारि मिश्र का भी नाम उल्लेखनीय है। ये तीनों उद्भट विद्वान् तथा कर्मकाण्ड के पक्षपाती थे। जैमिनि ने धर्म का स्वरूप अभिव्यक्त करते हुए वेद को ही प्रमुखता दी है। मीमांसक पुराने ब्राह्मणी यज्ञ वाले धर्म के अत्यन्त कट्टर अनुयायी थे। इन्होंने जगत् की सत्ता को माना है। विश्व के भीतर

कोई रहस्य नहीं है। हमारी इन्द्रियों से जो दृष्टिगोचर होता है वही सत्य है। इन आचार्यों ने भी न्यायवैशेषिक की तरह पदार्थों को स्वीकार किया है। आचार्यों के अनुसार इनका विवेचन करते हैं—

प्रभाकर ने अपनी प्रकरण पञ्चिका में निम्न पदार्थ माने हैं—

द्रव्य गुण, कर्म सामान्य, समवाय, संख्या, शक्ति तथा सादृश्य।

द्रव्य के इन्होंने नौ भेद किये हैं—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, काल, आत्मा, मन तथा दिशा। गुणों की २१ संख्या मानी है।

कुमारिल भट्ट ने 'भाव और अभाव नाम के दो पदार्थ माने हैं। अभाव वैशेषिक के अनुसार चार प्रकार का है—

(१) प्राक्, (२) ध्वंस, (३) अन्योन्य, (४) अत्यन्त।

भाव पदार्थ भी चार प्रकार के होते हैं—

(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य।

इन्होंने द्रव्य के ११ भेद स्वीकार किये हैं—

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, दिक् काल, आत्मा, मन, अन्धकार तथा शब्द। गुणों की कणाद के समान १२ संख्या मानी है।

मुरारि मिश्र ने ब्रह्म को ही पदार्थ माना है। व्यावहारिक रूप में धर्मी, धर्म, आश्रय तथा प्रदेश-विशेष चार पदार्थ स्वीकृत किये हैं जो उपर्युक्त दोनों आचार्यों से पूर्णतः भिन्न हैं।

सृष्टि शरीर की दृष्टि से जरायुज, अण्डज, स्वेदज तीन प्रकार की हैं। उद्भिज में प्रमाण के अभाव के कारण शरीर नहीं मानते हैं। प्रत्येक शरीर में मन और त्वचा दो इन्द्रियाँ होती हैं।

प्रमाणों की दृष्टि से भी कुमारिल ने ६, प्रभाकर ने ५ प्रमाण माने हैं। ये प्रमाण निम्न हैं—

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, शब्द।

सम्भव का अनुमान में ऐतिह्य को शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव कर लिया है। इन सबमें प्रमुखता शब्द प्रमाण को दी है क्योंकि वेदवाक्य (शब्द) ही सर्वोपरि है।

प्रारम्भ के आचार्यों ने ईश्वर को नहीं माना है। क्योंकि उसकी सत्ता का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। कुमारिल ने प्रलय और सृष्टि की कल्पना को स्वीकार नहीं किया। जगत् का कर्त्ता-धर्त्ता ईश्वर नाम का कोई पदार्थ नहीं है। बाद के प्रभाकर आदि आचार्यों ने ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार कर लिया था। परमात्मा कुमारिल या शबर ने नहीं माना क्योंकि उसके विषय में कुछ कहा नहीं। फिर भी कुमारिल के हृदय में परमात्मा के प्रति आस्था था, जैसा अभिलिखित श्लोक से स्पष्ट है—

इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयश्च बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ॥

जीवात्मा मृत्यु के बाद स्वर्ग को जाता है यही उसका मोक्ष है। यह शरीर, इन्द्रायादि से पृथक् है। यही कर्त्ता, भोक्ता तथा विभु है। यह एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। भिन्न-भिन्न शरीरों का अधिष्ठाता होने के कारण आत्मा अनेक हैं। यह शुद्ध ज्ञान स्वरूप हैं। भोगायतन (शरीर), भोग्य (शब्द-स्पर्शादि विषय), भोग-साधन (इन्द्रियाँ) ये तीन प्रपञ्च ही जीवात्मा को आवागमन में लिप्त रखते हैं। इनसे निवृत्ति ही मुक्ति है। वेद-विहित कर्मों के प्रतिपादन से ही मुक्ति मिल सकती है। इनके मत में मोक्ष की दशा में जीव में आत्म-ज्ञान नहीं रहता है, किन्तु ज्ञानशक्ति मात्र अवश्य रहती है। इसका विलय कभी नहीं होता है।

न्यायशास्त्र के समान मीमांसा में भी 'प्रामाण्यवाद' पर विशेष दृष्टिपात किया गया है। मीमांसक वेद को ही प्रमाण मानते हैं। अतः इस आधार पर ही वे स्वतः प्रामाण्यवादी हैं अर्थात् जिससे 'ज्ञान' उत्पन्न होता है उसी से उस ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। यथा इन्द्रियों के सन्निकर्ष से घट का ज्ञान होता है। उस समय 'ज्ञातता' नाम का एक धर्म उत्पन्न होता है। इसकी उपपत्ति के लिये मीमांसकों ने अर्थापत्ति प्रमाण को स्वीकार किया है। इस विषय पर विशेष प्रकाश 'प्रामाण्यवाद' वाले प्रकरण में डालेंगे।

इस प्रकार मीमांसादर्शन न्याय-वैशेषिक की अपेक्षा कुछ सूक्ष्मतर है किन्तु भौतिकता को ही महत्व देता है। इन्होंने ईश्वर या परमात्मा का खण्डन-मण्डन कुछ भी नहीं किया।

सांख्यदर्शन की विचारधारा—सभी दर्शनों का प्रमुख लक्ष्य सांसारिक माया-जाल से छुटकारा पाना है, त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति है। यद्यपि इन तीनों दुःखों (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) का नाश लौकिक तथा वैदिक उपायों से हो जाता है किन्तु वह सार्वकालिक मुक्ति नहीं है। अतः इनसे मुक्ति पाने के लिये तत्व ज्ञान परमावश्यक है। यह ज्ञान प्रकृति और पुरुष के विवेक से ही उत्पन्न हो सकता है। इसी को विवेक ख्याति कहते हैं। सांख्य-दर्शन में इसका पूर्ण वर्णन है। सांख्य शब्द (सम् + ख्या) धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है 'सम्यक् विचार'। न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा में आत्मा को जड़ माना है। उनका दृष्टिकोण व्यावहारिक है, बाह्य तथा स्थूल है किन्तु सांख्य इससे अधिक सूक्ष्म है। आत्मा (पुरुष) चेतन, निष्क्रिय, निर्लिप्त, अभोक्ता तथा द्रष्टा है किन्तु अज्ञान के कारण अपने को ही कर्त्ता मान बैठता है तथा इस प्रपञ्च में लिप्त रहता है। कहा भी है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते ॥

इस प्रकार आत्मा अपने स्वरूप को विस्मृत कर देता है। यह त्रिगुणात्मका

माया (प्रकृति) आत्मा (पुरुष) से पूर्ण पृथक् है। यह ज्ञान सांख्य से ही मिलता है। यथा—

"व्यक्ताव्यक्त-ज्ञ-विज्ञानात्"

सांख्य-दर्शन के आदि प्रवर्त्तक भगवान् कपिलाचार्य माने जाते हैं। उनके शिष्य आसुरि हुए। सांख्य का वर्णन उपनिषदों, महाभारत, पुराणादि में मिलता है। अतः यह अत्यधिक प्राचीन है। भगवान् आसुरि के शिष्य पंचशिखाचार्य ने 'षष्टि-तन्त्र' नाम का ग्रन्थ लिखा जिसमें सांख्य के सभी सिद्धान्तों का पूर्ण विवेचन है। इनके बाद और भी आचार्य हुए किन्तु ईश्वरकृष्ण का नाम अधिक महत्वपूर्ण है। इनका समय ईसा से दूसरी शताब्दी पूर्व का था। सांख्य के ऊपर लिखा हुआ सांख्यकारिका नाम का ग्रन्थ अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। इसको 'कनक सप्तति' 'सांख्य सप्तति' भी कहते हैं। इस ग्रन्थ की बहुत-सी टीकायें हुई हैं जिनसे इसकी महत्ता का दिग्दर्शन होता है। इसमें सभी सिद्धान्तों का सर्वाङ्गीण विश्लेषण है। सांख्यशास्त्र में तीन तत्वों को प्रधानता दी है—

(१) व्यक्त, (२) अव्यक्त, (३) ज्ञ (पुरुष)। व्यक्त तत्व २३ हैं, उनमें प्रकृति और पुरुष को मिला देने से २५ तत्व हो जाते हैं।

(१) व्यक्त—महत् (बुद्धि), अहंकार, मन, पंच तन्मात्रा, ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय तथा पंच महाभूत।

(२) **अव्यक्त—इसको प्रधान या मूलप्रकृति भी कहते हैं।** इसी से महदादि २३ तत्वों का विकास हुआ है। यही संसार के प्रपञ्च का कारण है।

(३) **ज्ञ—इसको पुरुष कहते हैं।** यह चैतन्यस्वरूप द्रष्टा है। इसमें प्रकृति विकृति की शून्यता है।

इन तत्वों का विवेचन विस्तृत रूप में पृथक् से किया जा चुका है। सांख्य तीन प्रमाण माने गये हैं। इन्हीं तीनों प्रमाणों में अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव जाता है—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) शब्द।

सततमरजोमयी होने के कारण प्रकृति में परिणाम होता रहता है और इस विकारभूत २३ तत्व ही कार्यकारण सम्पन्न हो प्रपञ्च का सृजन करते हैं। प्रकृति यह परिणाम तीन प्रकार होता है। ये तीनों परिणाम प्रतिक्षण होते रहते हैं। क्रिया अनादि और अनन्त है। प्रकृति का यह विषमावस्था ही प्रपञ्च का कारण जब तीनों गुण न्यूनाधिकता से विकृत होते हैं तभी अव्यक्त तत्व महदादि में होता है तथा इन तीनों गुणों की जो साम्यावस्था है वही सदृश परिणाम है। व्यक्त प्रपञ्च को अव्यक्त में लीन कर देता है। यही प्रलय है।

सांख्य के अनुसार असत् से ही सत् की उत्पत्ति होती है। कार्यकारण व्या से पूर्व अपने कारण में अव्यक्त अवस्था में विद्यमान रहती है और इस प्रकार उ व्यक्ताव्यक्त होना ही सृजन और नाश है। वस्तुतः यह कार्य-कारण भाव एक है

केवल स्वरूप में परिवर्तन होता है वस्तु वहीं रहती है, यथा मिट्टी से घड़ा का होना, यही दशा व्यक्त से अव्यक्त है। घड़ा के नष्ट होने पर फिर वह मिट्टी ही हो जाती है। यही व्यक्त से अव्यक्त है। यहाँ केवल मिट्टी ही है। इसी को सत्कार्यवाद कहते हैं—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाऽभावात् ।
शक्तस्यशक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

पुरुष के सम्बन्ध में दो धारणायें हैं—

(१) पुरुष एक है। (२) पुरुष अनेक हैं। यथा—

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥

किन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि उक्त कारिका बद्ध पुरुषों के विषय में कही गई है। अज्ञानावरण के हट जाने पर प्रकृति के स्वरूप को समझने पर वह त्रिगुणातीत सर्वज्ञ, नित्य, निर्लिप्त अविकारी पुरुष रह जाता है। सांख्य में पुरुष और प्रकृति दोनों परोक्ष हैं। अतः इनकी सिद्धि अनुमान प्रमाण से होती है।

पुरुष और अविद्या का सम्बन्ध अनादि काल से है। इसी प्रकार जड़ प्रकृति और पुरुष का भी सम्बन्ध अनादिकाल से है। अन्धे और लंगड़े के समान इनका परस्पर संयोग है। प्रकृति पुरुष भोग और अपवर्ग के लिए ही सृष्टि करती है। पुरुष का बिम्ब प्रकृति पर पड़ता है जिससे अचेतन प्रकृति क्रियाशील होती है तथा बुद्धि (महत्) की उत्पत्ति होती है। इस प्रकृति से—पुरुष तादात्म्य कर लेता है तथा—निर्लिप्त, निस्संग होते हुये भी अपने को कर्ता, भोक्तादि समझने लगता है, यही आरोप बन्धन कहलाता है जो प्रकृति पुरुष के विवेक से ही दूर होता है। यही मुक्ति कहलाती है। जब पुरुष प्रकृति के वास्तविक स्वरूप को देख लेता है, उस समय सती स्त्री के समान प्रकृति उसके समक्ष नहीं रह जाती है—

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।
या 'दृष्टाऽस्मी' ति पुनर्नदर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥

अन्ततोगत्वा जब मनुष्य को विवेक हो जाता है, तब उसके लिये सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं रहता। प्रकृति भी उससे विलग हो जाती है। यही 'कैवल्य' है। परन्तु पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण पुरुष-शरीर का पतन नहीं होता है। वह निरासक्ति भाव से सांसारिक प्रपञ्चों को भोगता है और जब तक उसके प्रारब्ध के सस्कार नष्ट नहीं होते तब तक शरीर धारण किये रहता है, यही उसकी जीवन मुक्ति है। यद्यपि उसके सभी संचित कर्म ज्ञानाग्नि से जल जाते हैं। शरीरपात ही विदेहमुक्ति है।

सांख्य की मुक्ति में भी पुरुष सतोगुणांश से अवलिप्त रहता है। क्योंकि वह निरपेक्ष, दृष्टा तथा साक्षी होकर प्रकृति की क्रियाओं का अवलोकन करता है। अतः

सांख्य की मुक्ति पूर्ण निवृत्ति नहीं कही जा सकती। यद्यपि पुनर्जन्म न होने के कारण सांसारिक दुःखों से छुटकारा मिल जाता है। फिर भी सुख-दुःखादि के कारणभूत गुण विद्यमान रहते ही हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में सांख्य में कुछ नहीं कहा गया है क्योंकि ईश्वर से उनका कोई प्रयोजन भी नहीं है। पुरुष और प्रकृति ही प्रमुख तत्व हैं। प्रकृति स्वतः परिणाम वाली है, अतः उसे ईश्वर की अपेक्षा नहीं है। अतः यह दर्शन 'निरीश्वरवादी' है, बाद में इस दर्शन में भी ईश्वर की कल्पना कर ली गई थी। भागवत और गीता का सांख्य 'सेश्वर' है।

योगदर्शन की विचारधारा—सभी दर्शनों का एकमात्र लक्ष्य दुःखों की निवृति तथा मोक्ष की प्राप्ति है। यद्यपि साधन भिन्न-भिन्न हैं किन्तु साध्य एक ही है। किसी न किसी मार्ग से उसी गन्तव्य स्थान को प्राप्त करना है। कोई सीधा जाता है, कोई चक्कर से जाता है। महाकवि बिहारी का कथन दृष्टव्य है—

"जेहि तेहिं भांतिन सेइबो एकइ नन्दकिशोर।"

महाकवि कालिदास ने भी रघुवंश में कहा है—

बहुधाऽप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे॥

अतः योगदर्शन भी अन्य दर्शनों की अपेक्षा सूक्ष्म ज्ञान का ही प्रदर्शन करता है। सांख्य में कैवल्य प्राप्ति के लिये विवेकख्याति का उल्लेख है, जो सतत् तत्वाभ्यास से उपलब्ध होती है किन्तु यह तत्वाभ्यास की प्रणाली क्या है ? इसकी पूर्ति योगदर्शन में ही हुई है। योग का व्यावहारिक ज्ञान इसी में मिलता है, सांख्य का तत्वज्ञान बिना योग के अधूरा ही है। इन दोनों दर्शनों में ईश्वर-तत्व को छोड़कर प्रायः समानता है। सांख्य ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है। इनकी समानता का दिग्दर्शन करते हुए अर्जुन से गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति सः पश्यति॥

योग का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। वैदिक ऋषियों ने भी इसकी साधना की। उपनिषादि ग्रन्थों में इसका वर्णन है। चित्त की वृत्तियों का निरोध करना ही योग है। किन्तु एक शास्त्र या दर्शन के रूप में इसका प्रणयन महर्षि पतञ्जलि ने किया। १९४ सूत्रों में इसका संकलन किया। पतञ्जलि के समय में मतभेद है। किन्हीं विद्वानो ने महाभाष्यकार पतञ्जलि, चरकसंहिता के पतञ्जलि तथा योगशास्त्र के पतञ्जलि को भिन्न बताकर इनका समय २५० ई० सिद्ध किया है। किन्तु इसके विपरीत अन्यों ने तीनों को एक सिद्ध करते हुए इनका समय १५० ई० पूर्व निश्चित किया है। यथा—

योगेनचित्तस्य पतेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलि प्राञ्जलिराततोऽस्मि ॥

पतञ्जलि का योगसूत्र चार पादों में विभक्त है—

(१) समाधिपाद ५१ सूत्रों में ।
(२) साधनपाद ५५ सूत्रों में ।
(३) विभूतिपाद ५४ सूत्रों में ।
(४) कैवल्यपाद ३७ सूत्रों में ।

योगशास्त्र में दर्शन सम्बन्धी तथा योग सम्बन्धी विचार हैं । दार्शनिक विचारों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) चित्त, (२) जगत्, (३) तत्वज्ञान । योग सम्बन्धी विचारों को (१) समाधि, (२) क्लेश, (३) साधन, (४) ईश्वर, (५) जीव, (६) मुक्ति, (७) कर्म ।

(१) चित्त—यद्यपि चित्त असंख्य वासनाओं से युक्त होने के कारण देखने में भोक्ता प्रतीत होता है किन्तु वह जीव की ही भोग्य वस्तु है और संघात रूप में उसी के, लिये ही कार्य करता है । चित्त की पांच भूमियां तथा पांच ही वृत्तियां कही गई हैं—

भूमियां—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध ।

प्रारम्भ की तीन भूमियां योग साधना के लिये उपयुक्त नहीं हैं । अन्तिम दो ही योग साधना को उपयोगी हैं । निरुद्ध ही सर्वश्रेष्ठ है । त्रिगुणात्मक होने के कारण, चित्त की तीन अवस्थायें हैं—(१) प्रख्या, (२) प्रवृत्ति, (३) स्थिति ।

वृत्तियां—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति । ये सभी अज्ञानावरण से प्रसूत होती हैं । चित्त अपने को चेतन के समान समझने लगता है । क्योंकि पुरुष का प्रतिबिम्ब चित्त पर पड़ने से तादाभ्यास हो जाता है । चित्त की अवस्था में निम्न परिणाम होते हैं—

(१) निरोध, (२) समाधि ।

(२) जगत्—योग में पुरुष को द्रष्टा तथा प्रधान (प्रकृति) को दृश्य कहा गया है । दृश्य त्रिगुणात्मक, प्रकाश और स्थिति वाला है । सांख्य ने २५ तत्वों का विवेचन किया है, योग ईश्वर को मिलकर २६ तत्व माने गये हैं । अतः इसे सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है । इन तत्वों का विवेचन सांख्य दर्शन में कर चुके हैं । इन्हीं के संयोग से जगत् का प्रादुर्भाव होता है । यह दृश्य जगत् पुरुष के भोग तथा अपवर्ग के लिये है ।

(३) तत्वज्ञान— पुरुष का प्रकृति के संयोग से मुक्त होना ही कैवल्य है । त्रिविध दुःखों से निवृत्ति ही मुक्ति है, जो विवेक ज्ञान से होती है । इस तत्व ज्ञान (विवेक ख्याति) को प्राप्त कर योगी आह्लादित हो उठता है और उसकी सभी

वासनायें नष्ट हो जाती हैं। किन्तु सत्व गुण की प्रवृत्ति उसमें रहती है क्योंकि विवेक ज्ञान सत्त्वगुण प्रधान होता है। यथा—

'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धि साम्ये कैवल्यमिति'

(४) समाधि—यह दो प्रकार की होती है—(१) संप्रज्ञात, (२) असंप्रज्ञात। संप्रज्ञात समाधि में सभी वृत्तियों का लय हो जाता है केवल एकाग्रता की वृत्ति शेष रह जाती है। इसमें क्लेष-मर्मजन्य बन्धन शिथिल हो जाते हैं। यह चार प्रकार की होती हैं—

वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता।

असंप्रज्ञात—इसमें सभी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। आलम्बन का अभाव होकर ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय की भावना नष्ट हो जाती है। इसमें केवल संस्कार रह जाते हैं एकाग्रता की वृत्ति भी नष्ट हो जाती है। यह दो प्रकार की होती है—(१) भव (अविद्या) प्रत्यय, (२) उपाय प्रत्यय।

(५) क्लेश—इसके पांच भेद होते हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश। इन्हीं से पुरुष युक्त होकर आवागमन के चक्कर में भ्रमण करता है। धर्माधर्मादि कर्मों के ये ही प्रवर्त्तक हैं।

(६) साधन—जिनसे पुरुष को कैवल्य प्राप्त होता है योग में उन्हीं को साधन कहा गया है इन्हीं को अष्टांग योग कहा जाता है। ये आठ हैं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। इनमें प्रथम पांच बाह्य साधन हैं तथा अन्तिम पांच आन्तरिक हैं।

(७) ईश्वर—पतञ्जलि ने ईश्वर की सत्ता को माना है। उसी की भक्ति से समाधि की सिद्धि होती है। इसी ईश्वर या प्राणव के भजन से चित्त की एकाग्रता होती है। ईश्वर एक विशिष्ट पुरुष है जो अविद्या, मल, कर्म तथा संस्कारादि से निर्लिप्त है। वह सर्वज्ञ, सर्वगुरु, नित्य मुक्त तथा शुद्ध चैतन्य है। वह इच्छा, क्रिया, ज्ञान-शक्ति से युक्त है। यथा पतञ्जलि ने कहा है—

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वर।"

ईश्वर ऐश्वर्य सम्पन्न है प्राणियों के प्रति अनुग्रह करता है। इसी की कृपा से चित्त की वृत्तियों का नाश होता है। इसी के चिन्तन से बुद्धि सात्विक होकर निर्मल हो जाती है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है—

सोइ जाने जेहि देहु जनाई।
जानत तुम्हें तुम्हहि ह्वै जाई॥

(८) जीव—यद्यपि जीव (द्रष्टा) चिन्मात्र, शुद्ध तथा निर्विकार है। फिर भी बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने से उसके धर्मों का अपने में आरोप कर लेता है तथा दृश्य जगत् का उपभोग करता है। बुद्धि की विकृति से ही पुरुष में विकारादि गुण आ जाते हैं, उन्हीं को हटाकर चैतन्य स्वरूप में स्थित करना ही योग का लक्ष्य है। इसी दशा को कैवल्य कहते हैं।

(६) मुक्ति— अष्टांग योग की साधना से ही मुक्ति होती है, उससे समग्र क्लेशादि नष्ट हो जाते हैं। गुणों का आत्यन्तिक वियोग ही कैवल्य है। इस अवस्था में पुरुष ज्योतिर्मय, केवली होकर प्रतिष्ठित हो जाता है। पतञ्जलि के अनुसार 'बुद्धिसत्व तथा पुरुष' की जो शुद्धि एवं सादृश्य है, वही योग की मुक्ति है।

कर्म—तीनों गुणों में रजोगुण ही क्रियाशील है। अतः सृष्टि की प्रत्येक वस्तु क्रियाशील (गतिशील) रहती है। सभी प्राणी कर्मरत रहते हैं। चित्त में संस्कारों से कर्म में वृद्धि होती है। इसी से वासनायें उद्‌बुद्ध होती हैं। अनादि अविद्या से प्रसूत कर्म का चक्कर चलता ही रहता है। ये कर्म चार प्रकार के होते हैं। कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण, शुक्ल, अशुक्ल-अकृष्ण। वासनायें पुरुष में फल, आश्रय तथा आलम्बन के द्वारा रहती हैं। इन सबका हेतु अज्ञान ही है जो विवेक-ज्ञान से नष्ट होता है।

प्रमाण—सांख्य-दर्शन के समान योग में भी तीन प्रमाणों को स्वीकार किया गया है—

(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) शब्द।

वस्तु के आकार का अवगाहन करने वाली चित्तवृत्ति की अवस्था प्रत्यक्ष प्रमाण है अर्थात् चित्तवृत्ति को वस्तु के संयोग से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है। इन्द्रियों को द्वार माना गया है, जो चित्तवृत्ति के साधन हैं। अनुमान एवं शब्द का विवेचन सांख्य के समान ही है।

इस प्रकार योग-दर्शन की व्यापकता अन्य दर्शनों की अपेक्षा कम नहीं है। सांख्य और योग में बहुत कुछ समानता है। सांख्य में बद्ध, मुक्त और ज्ञेय तीन पुरुष हैं। योग में बद्ध, मुक्त तथा ईश्वर हैं। सांख्य का 'ज्ञ' सैद्धान्तिक रूप से सम्पन्न है। योग का ईश्वर व्यावहारिक है, जो संसारी प्राणियों का उद्धार करने वाला है। सांख्य की अपेक्षा योग की दृष्टि कुछ सूक्ष्मता की ओर अग्रसर है। गीता में योग की व्याख्या इस प्रकार है—

योगस्थः कुरु कर्माणि संगत्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्धसिद्धयोः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

वेदान्त-दर्शन की विचारधारा—उपनिषदों में सभी दर्शनों का मूल किसी न किसी रूप में पाया जाता है। उनमें विभिन्न विचारों का प्रतिपादन है, यद्यपि उनका कोई एक प्रतिपाद्य विषय नहीं है। फिर भी उनमें सांसारिक दुःखों से निवृत्ति का विवेचन है। किसी परमतत्व (ब्रह्म) को जानने की जिज्ञासा है। कहीं उस तत्व को द्वैत रूप में, कहीं अद्वैत रूप में चित्रित किया गया है। वस्तुतः उपनिषद् दर्शन के तर्क के ग्रन्थ नहीं, अनुभूति के साक्षात्कार के ग्रन्थ हैं। जैसा कि कठोपनिषद् में लिखा है—

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासित्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा॥

अन्ततोगत्वा उपनिषदों में ज्ञान का, आत्मा का, ब्रह्मादि का ही वर्णन है। जीवन को कैसे सुखमय बनाया जा सकता है, उसकी मुक्ति कैसे हो सकती है, परमतत्व क्या है, उसको कैसे उपलब्ध किया जा सकता है। आदि का ही विश्लेषण है, अन्य दर्शनों के समान, वेदान्त का आधार भी उपनिषद् ही है, यद्यपि वेदान्त का विश्लेषण दार्शनिक दृष्टिकोण पर है। अभी तक जिन दर्शनों का विवेचन किया जा चुका है, उत्तरोत्तर उनका विषय स्थूल से सूक्ष्मता की ओर है। इन सब में सांख्य और योग का महत्व अधिक है। परन्तु सांख्य का पुरुष मुक्ति की अवस्था में भी शुद्ध सत्व-प्रधान अज्ञान से लिप्त रहता है तथा निर्लिप्त हो द्रष्टा के रूप में तटस्थ भाव से प्रकृति के क्रिया-कलापों का पर्यवेक्षण करता रहता है। अतः आत्यनिक निवृत्ति वहाँ भी नहीं होती क्योंकि जड़ प्रकृति तथा चेतन है। पुरुष रूप से द्वैत की स्थिति बनी रहती है जो कभी भी दुःखों का कारण बन सकती है। यही अवस्था योग में भी है। अतः साधक को और कुछ उपलब्ध करने की इच्छा बनी रहती है। वह (जीवात्मा) शुद्ध-सत्व मक्त पुरुष के रहस्य को समझने के लिये अग्रसर होता है। यही शंकर वेदान्त या अद्वैत दर्शन की भूमि है। जहाँ चलकर द्रष्टा और दृश्य का भेद-भाव समाप्त हो जाता है। वह परम रहस्य सांख्य के अव्यक्त से भी अव्यक्त है—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तात् सनातनः।
यः सः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय जीव ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करना है। उस सर्वोपरि, निर्गुण, इन्द्रियातीत तत्व को जानना है जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा है—

"सर्वं विजानाति त केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयात्"

इस अवस्था में पहुँचकर सभी भेद-भाव मिट जाता है और जो सबको जानने वाला है उसे कौन जाने, किससे जाना जाय। इस आत्म तत्व को समझ लेने पर तादात्म्य हो जाता है। अपने स्वरूप का भी स्मरण नहीं रहता। वह स्वरूप अवर्णनीय एवं अवाङ् मनसगोचर हो जाता है। न्याय और वैशेषिक में जिस स्वरूप की सत्ता का विवेचन है, सांख्य योग में जिसको चेतनता से सम्पन्न कर दिया गया है, उसी आत्मा को वेदान्त ने आनन्दमय कर दिया। इस समय वह सच्चिदानन्दमय हो जाता है। अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। उस समय "अहं ब्रह्मास्मि" का अनुभव होने लगता है। यही वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय है। यद्यपि उपनिषद् भी वेदान्त (वेद + अन्त) के ग्रन्थ हैं। किन्तु शुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से वादरायण के ब्रह्म-सूत्रों को वेदान्त माना गया है। वादरायण या व्यास अथवा जैमिनि एक पुरुष माने गये हैं जिन्होंने पूर्व-मीमांसा (मीमांसा), उत्तर-मीमांसा (वेदान्त) का प्रणयन किया। पूर्व-मीमांसा मे कर्मकाण्ड का विवेचन है, उत्तर मीमांसा में ज्ञान का विश्लेषण है। कई आचार्यों ने वेदान्त के सूत्रों की व्याख्या की किन्तु आज वे उपलब्ध नहीं हैं।

वेदान्त सूत्रों पर सबसे प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थ शंकराचार्य का भाष्य है। इसका समय (७८८–८२०) था। इनके गुरु गोविन्दपाद तथा परमगुरु गौडपाद थे। उस समय बौद्धों का प्रचार एवं उनकी लोकप्रियता बढ़ी-चढ़ी थी। वे कर्मकाण्ड तथा ब्राह्मण-धर्म का मूलोच्छेदन कर रहे थे। ऐसी दशा में स्वामी शंकराचार्य ने वेदान्त-सूत्रों पर वैज्ञानिक ढंग से भाष्य लिखा। शास्त्रार्थ में बौद्धों को परास्त किया। इस कार्य में उनको आशातीत सफलता मिली। इसी आधार पर ब्राह्मण-धर्म की जड़ को दृढ़ किया गया। शंकराचार्य ने अद्वैत का प्रतिपादन किया तथा उनके शिष्यों ने भी उन्हीं का अनुसरण किया। वेदान्त-सूत्र में चार अध्याय हैं और प्रत्येक के चार-चार पाद हैं। वादरायण ने उपनिषदों के आधार पर ही ब्रह्म-सूत्रों की रचना की है और जगत् स्रष्टा ब्रह्म को सिद्ध किया।

संसार के सभी दुःखों का कारण अज्ञान, माया या अविद्या है और यही आवागमन का मूल कारण है। एक आत्मा ही सत्य है। इसी आत्मा और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन शंकराचार्य ने किया। द्वैतता की प्रतीति अनुचित है। "अहं जानामि" से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है जो ब्रह्म का ही स्वरूप है। केवल अज्ञान के कारण ही द्वैत का भाम होता है। शांकर-वेदान्त में ब्रह्म की तीनों सत्ताओं का विवेचन है—

(१) पारमार्थिकी सत्ता—जिस पदार्थ का अस्तित्व शाश्वत् हो, जो त्रिकाल में भी बाधित न हो, वही पारमार्थिक सत् पदार्थ है। इसी को ब्रह्म कहते हैं जो सार्वकालिक एवं सर्वव्यापी है।

(२) व्यावहारिकी सत्ता—समय दृष्टि में व्यवहार के रूप में जिस सत्ता का प्रत्यक्ष मान हो किन्तु ब्रह्मज्ञान से जिसका नाश हो जाये उसे व्यावहारिक सत्ता कहते हैं। यह नामरूपात्मक जगत् इसी का प्रतीक है, जो सत्य प्रतीत होता है। किन्तु अज्ञान का ही परिणाम है।

(३) प्रतिभासिकी सत्ता—जहाँ वस्तु में अवस्तु का आरोप होकर सत्य की प्रतीति हो, किन्तु ज्ञान होने पर अथवा वास्तविक स्वरूप के दर्शन पर समाप्त हो जाय, यथा अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी में सर्प का भान होना। शुक्ति में रजत की प्रतीति होना। अन्धकार के अपहरण होने पर मिथ्या-भूत, सर्प और रजत का आरोप नष्ट हो जाता है। इसी को प्रतिभासिकी सत्ता कहते हैं।

आरोप तथा अपवाद—सत्य वस्तु में अवस्तु का आरोप ही अध्यास या भ्रांति है। यथा रस्सी में सर्प का भान।

यह मिथ्या प्रतीति दो प्रकार की होती है—(१) परिमाण (विकार) भाव, (२) विवर्त भाव।

परिणाम भाव का वर्णन सांख्य-दर्शन में कर चुके हैं। विवर्त भाव का तात्पर्य है कि जो वस्तु अपने स्वरूप को नहीं त्यागती अपितु अज्ञानवश उसमें अन्य की

प्रतीति होने लगती है, जैसे शुक्ति अपने स्वरूप में अवस्थित है। किन्तु उसमें चांदी का भाव भी होने लगता है; यही विवर्त है। इसी प्रकार सत्य वस्तु ब्रह्म में भी असत्य, अवस्तु जगत् का अज्ञान के कारण आरोप कर लिया जाता है। इस भ्रम और अज्ञान को प्रकाश रूप ज्ञान के द्वारा विलीन कर सत्य वस्तु का साक्षात्कार ही अपवाद है।

अज्ञान माया यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने अज्ञान, माया को भिन्न माना है, परन्तु शंकर ने एक ही अर्थ में लिया है। इस त्रिगुणात्मक, अनिर्वचनीय भावाभावरूप अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं—(१) आवरण, (२) विक्षेप।

प्रमाता की दृष्टि का आच्छादन आवरण शक्ति से होता है। विक्षेप शक्ति के द्वारा इस आत्मा (ब्रह्म) में नामरूपात्मक जगत् का आरोप कर लिया जाता है। इसी विक्षेप शक्ति के द्वारा चराचर जगत् की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार मायावच्छिन्न चैतन्य ही इस सृष्टि का कारण है।

ब्रह्म, ईश्वर, जीव, जगत्—साक्षात् स्वयं प्रकाश ब्रह्म उपाधिरहित सर्वव्यापी विशुद्ध चैतन्य है जो जीव, जगत्, ईश्वर का आधारभूत है। इसको तुरीय भी कहते हैं। समष्टि रूप अज्ञान से उपहित चैतन्य ही सर्वज्ञ तथा ईश्वर है। समष्टि रूप में यह सबका कारण है। इसमें सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है। व्यष्टि भूत अज्ञान ही जीव (प्राज्ञ) है। जो रज तम से अभिभूत मलिन सत्त्व की प्रमुखता से युक्त है। यह अल्पज्ञ तथा अनीश्वर है। यही प्रमाता, भोक्ता तथा कर्त्ता है।

यह समस्त ब्रह्माण्ड देखने में सत्य प्रतीत होता है किन्तु माया का ही प्रपञ्च है। जो पूर्णरूपेण असत्य है। जादूगर की क्रिया-कलापों की तरह यह अज्ञान का ही खेल है। जैसे जादूगर के चमत्कार असत्य हैं जैसे ही वह भी है। वह उस ब्रह्म का खेल है जो भ्रम के कारण सत्य भान होता है।

सृष्टि चार प्रकार की मानी गई है—

(१) जरायुज, (२) अण्डुज, (३) स्वेदज, (४) उद्भिज्।

सृष्टि का मूल कारण वही ब्रह्म (आत्मा) है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में लोम, नखादि उत्पन्न हो जाते हैं। उसी प्रकार ब्रह्म से जगत् की सृष्टि होती है। विक्षेप शक्ति से युक्त ब्रह्म (ईश्वर) से आकाशादि तत्व उत्पन्न होते हैं। सूक्ष्मता के कारण इनको तन्मात्रा कहते हैं। इन तन्मात्राओं के सात्विक अंश से ज्ञानेन्द्रियाँ तथा राजसिक अंश से कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इनके (तन्मात्राओं के) मिश्रण से बुद्धि और मन तथा इन्हीं के मिश्रण से पंच प्राणों की उत्पत्ति होती है। इन सतरह तत्वों से सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है तथा पञ्च महाभूतों के सम्मिश्रण से स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है। इन्हीं महाभूतों से चौदह लोक तथा भोजनादि का सृजन होता है। इस स्थूल शरीर को अन्नमय कोश कहा जाता है। अन्त में प्रलय होने पर सब क्रमश: अपने कारणों में मिलते जाते हैं और एकमात्र ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है।

बन्ध मोक्षः—अविद्या ही बन्धन है, जिसके कारण जीव को भ्रम होता है और वह इस नामरूपात्मक जगत् में नाना प्रकार के दुःखों को भोगता है। कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जन्म ग्रहण करता है। माया की प्रबल शक्ति उसे भ्रम जाल में फंसाये रहती है। अज्ञान की शृंखला से जकड़ जाता है। यही बन्धन है। इसका छुटकारा ज्ञान से होता है। 'निर्विशेष, नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्वप्रकाश चिन्मात्र ब्रह्म ही है।' ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव और ब्रह्म एक ही हैं।' यही ज्ञान जीव को मुक्त कर देता है।

बद्ध समझने के भ्रमात्मक ज्ञान का निराकरण हो जाता है। यह मोक्ष ही मानव जीवन का परम लक्ष्य है। इस मुक्ति के लिए मुमुक्षु को साधन भी करने पड़ते हैं। प्रमुखतः ये चार साधन हैं—

(१) नित्यानित्यवस्तु ज्ञान, (२) इस लोक-परलोक के भोग से विरक्ति, ( ) शम-दम-तितिक्षादि से सम्पन्न होना, (४) मोक्ष की उत्कण्ठा।

समाधि दो प्रकार की होती है—

(१) सविकल्प समाधि—इसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भान होते हुए भी अद्वैत की प्रतीति होती रहती है। जैसे—सोना और उसके आभूषणों में भेद होते हुए भी एक ही धातु स्वर्ण है, जो उपाधि का भेद है।

(२) निर्विकल्पक समाधि—इसमें सभी भेद-भाव नष्ट हो जाते हैं और उस अद्वैत तत्त्व में चित्तवृत्ति का तादात्मय हो जाता है। उस समय सभी संस्कार लुप्त हो जाते हैं। केवल प्रारब्धवश जीवात्मा शरीर को धारण किये रहता है। वह तटस्थ भाव से सांसारिक भोगों को भोगता है। ऐसा ब्रह्मनिष्ठ पुरुष ज्ञानादि के बन्धन से मुक्त हो जाता है। उसे नश्वर स्थूल शरीर से मोह नहीं होता है। इसी को जीवन मुक्त कहते हैं। इस अद्वैत की स्थिति में 'एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किञ्चन' की श्रुति चरितार्थ हो जाती है। अन्तः में शरीरपात होने पर वह (जीव) ब्रह्म में लीन हो जाता है।

प्रमाण—अन्य दर्शनों के समान प्रमेय की सिद्धि के लिए वेदान्त में भी प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। इनकी संख्या ६ मानी गई है—

(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, (४) आगम, (५) अर्थापत्ति, (६) अनुपलब्धि।

इन प्रमाणों का विस्तृत रूप से विवेचन आगे किया जायेगा।

इस प्रकार सम्पूर्ण दर्शनों का वर्णन करने से स्पष्ट है कि सभी का आधार उपनिषद् हैं और प्रायः सबका लक्ष्य दुःखों की निवृत्ति एवं निःश्रेयस की प्राप्ति है। यह अवश्य है, सबके साधन भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु इतना अवश्य है कि सभी मत उत्तरोत्तर सूक्ष्म तत्त्व की ओर ही अग्रसर हुए हैं। ज्ञान-दृष्टि से सभी विभिन्नताओं को पृथक् कर देने पर एक ही परमतत्व (ब्रह्म) अवशिष्ट रह जाता है जो निर्गुण,

अविकारी, निर्विशेष तथा अवाङ्मनसगोचर है। अतएव पूर्ण एवं सूक्ष्म विश्लेषण करने पर अद्वैत सिद्धान्त ही सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है। क्योंकि ब्रह्मात्मैक्य रूप आनन्दमय स्थिति का अनिर्वचनीय अनुभव किसी दूसरे दर्शन द्वारा प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। समस्त उपनिषदों का मूलभाव यही अद्वैत की अभिव्यक्ति है। अद्वैतानन्द गुंगे का गुड़ जिसका स्वाद इन्द्रियातीत है। इस आत्मा और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन ही वेदान्त दर्शन में हुआ है। अतः यह दर्शन ही अन्य दर्शनों की तुलना में सर्वोत्कृष्ट है। इसी के द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। त्रिगुणात्मिका माया उसी की शक्ति है। वेदान्त-दर्शन अन्य दर्शनों से आगे बढ़कर यह प्रतिपादित करता है कि पिण्ड ब्रह्माण्ड की भी जड़ में कौन-सा श्रेष्ठ तत्त्व है। मानव उस पर परम तत्त्व को कैसे प्राप्त कर सकता है, किस प्रकार तद्रूप हो सकता है। वेदान्त के सामने समग्र दर्शन चुप हो जाते हैं। नतमस्तक हो उसकी सत्ता स्वीकार करते हैं। गीता में भी उसी तत्त्व का रूप इस प्रकार कहा है—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ ७·२४
परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तात् सनातनः।
यः सः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ ८·२०

प्रश्न २—सांख्य, वेदान्त एवं न्याय के अनुसार सृष्टि क्रम का वर्णन करते हुए इसकी अन्य दर्शनों से तुलना कीजिये।

[आ० ७४, ७७, ८१, ८३, ८६, मे० ८२, का० ९२, गो० ८८, ९०, ९३, दि० ७७, ८१, ८६, बना० ७८, ८०, ८५] (M. Imp.)

उपनिषदों में सृष्टि का उपादान तथा निमित्त कारण ब्रह्म है। मुण्डकोपनिषद में कहा है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यां ओषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥ १/७

विभिन्न दर्शनों के आधार पर सृष्टि के विकास पर प्रकाश डालते हुए सांख्य और वेदान्त सम्बन्धी विवेचन करेंगे—

सांख्यदर्शन—प्रकृति तथा पुरुष के संयोग से सृष्टि मानता है। प्रकृति जड़ तथा पुरुष निष्क्रिय है। अतः अलग होकर सृष्टि उत्पन्न नहीं कर सकते। इसलिए इन दोनों के संयोग से ही सृष्टि उत्पन्न होती है। समस्त विषयों का अनादि मूल स्रोत होने के कारण यह प्रकृति नित्य और निरपेक्ष है। क्योंकि सापेक्ष और अनित्य पदार्थ जगत् का मूल कारण नहीं हो सकता है। मन, बुद्धि, अहंकार जैसे सूक्ष्म कार्यों का आधार होने के कारण प्रकृति एक गहन, अनन्त और सूक्ष्मातिसूक्ष्म शक्ति है

जिसके द्वारा सृष्टि और नाश का चक्र चलता रहता है। सांख्य दर्शन भी परिणाम-वादी है। विरुद्ध स्वभाव वाले प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध में लंगड़े और अन्धे का दृष्टान्त दिया गया है। जगत् का प्रादुर्भाव इसी संयोग का परिणाम है। यह परिणाम दो प्रकार का होता है—(१) स्वरूप, (२) विरूप। प्रलय स्वरूप परिणाम का फल है। इसमें प्रकृति गुणों की साम्यावस्था तो प्राप्त हो जाती है, किन्तु विरूपा-वस्था में पुरुष बिम्ब के सम्पर्क से प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। फलतः प्रकृति अव्यक्त रूपों को महत् अहंकारादि व्यक्त तत्त्वों में प्रकाशित करती है। पुरुष का बिम्ब चित् और प्रकाश स्वरूप है। अतः चित् बिम्ब का सम्पर्क सत्त्वगुण के साथ ही होता है और इस प्रकार प्रकृति के सात्विक अंश से महत् तत्त्व (बुद्धि तत्त्व) की उत्पत्ति होती है। महत् में यद्यपि तीनों गुण रहते हैं, किन्तु प्राधान्य सत्त्व का ही रहता है। प्रतिक्षण परिणाम के द्वारा बुद्धितत्त्व में रहने वाले रजोगुण से अहंकार उत्पन्न होता है। त्रिगुणात्मक होने के कारण इसके तीन रूप हैं

(१) वैकृत अहंकार से ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय तथा मन उत्पन्न होता है। इसमें सात्विक गुण की विशेषता रहती है।

(२) तामस—से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। पंचतन्मात्राओं से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। इसमें तमोगुण की प्रधानता रहती है।

(३) तैजस—यह सात्विक तथा तामस इन दोनों अंशों को अपने-अपने कार्य करने में सहायता देता है। इसमें रजोगुण की प्रधानता रहती है। सृष्टि के विकास-क्रम में यह मत ईश्वरकृष्ण तथा वाचस्पति मिश्र का है। विज्ञान-भिक्षु सात्विक अहं से मन, राजस से १० इन्द्रियाँ एवं तामस से पंचतन्मात्रा तथा स्थूल भूतों की उत्पत्ति मानता है। सांख्य के मत में १० इन्द्रियाँ बाह्यज्ञान के साधन हैं और मन + बुद्धि + अहंकार ये तीनों अभ्यन्तर ज्ञान के साधन हैं।

शब्दतन्मात्रा = आकाश भूत
शब्द + स्पर्श = वायु भूत
शब्द + स्पर्श + रूप = तेज भूत
शब्द + स्पर्श + रूप + रस = जल भूत
शब्द + स्पर्श + रूप + रस + गन्ध = पृथिवी भूत

इस दर्शन में प्रत्यय (बुद्धि) सर्ग और तन्मात्र सर्ग (भौतिक वर्ग) दो ही भेद माने जाते हैं।

वेदान्त दर्शन—में ब्रह्म (ईश्वर) को जगत् का निमित्त और उपादान दोनों कारण ही माना है। उपनिषद् का वाक्य "एकाकी न रमते एकोऽहं बहुस्याम:" ही सृष्टि का मूल कारण है। शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र में 'लोकवस्तु लीलाकैवल्यम्' अर्थात् ईश्वर केवल लीला के लिए ही सृष्टि करता है, यह उनका स्वभाव है। जैसे मानव

शरीर में श्वास-प्रवास चलते रहते हैं उसी प्रकार सृष्टि का विकास और विनाश होता रहता है। तमोगुण प्रधान विक्षेप शक्ति से सम्पन्न ईश्वर (ब्रह्म) ही सृष्टि का कारण है। जिस प्रकार मनुष्य शरीर में केशादि उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से जगत् प्रादुर्भूत होता है—

'यथा सतः पुरुषात् केश लोमानि।'
'तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥'

जिस प्रकार मकड़ी अपनी प्रधानता से निमित्त कारण तथा शरीर की प्रधानता से उपादान कारण होती है, उसी प्रकार अज्ञान की आवरण + विक्षेप शक्तियों से युक्त चैतन्य निमित्त कारण तथा अपनी उपाधियों की प्रधानता से उपादान कारण होता है। यह जगत् माया का विलास है एवं उनकी दोनों शक्तियों का सामूहिक व्यवसाय है। आवरण से ब्रह्म थक जाता है तथा विक्षेप से भ्रम रूप जगत् की उत्पत्ति हो जाती है। 'विक्षेप—शक्तिलिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत' शंकर विवर्तवाद मानते हैं, जैसे रज्जु में सर्प की भ्रान्ति। वैसे ही जगत् की भ्रान्ति ब्रह्म में हो जाती है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि आनन्दमय चेतन ब्रह्म से दु:खमय तथा अचेतन जगत् कैसे उत्पन्न हो सकता है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार गोबर (अचेतन) से बिच्छू आदि तथा शरीर (चेतन) से नख, केशादि उत्पन्न होते हैं, ऐसे ही इनकी उत्पत्ति होती है। माया के द्वारा ही जगत् का क्रमिक विकास होता है।

अर्थात् सूक्ष्म से स्थूल की परिणति का आभास होता है। यह माया या शक्ति पहले अव्यक्त रहती है। तब सूक्ष्म विषयों में व्यक्त होती है, तत्पश्चात् स्थूल विषयों में। इसी माया के आश्रय से ब्रह्म ईश्वर कहलाता है। जब माया सूक्ष्म रूप में व्यक्त होती है तब उसका आधार ब्रह्म 'हिरण्यगर्भ' (सूत्रात्मा अथवा प्राण) अथवा सूक्ष्म विषयों की समष्टि स्थूल रूप में उसका आधार 'वैश्वान' (विराट) अथवा स्थूल विषयों की समष्टि (समस्त व्यक्त संसार) कहलाता है। जगत् इस क्रमिक विकास की उपमा मानव की तीन अवस्थाओं से दी जाती है। सुषुप्तावस्था=ईश्वर, स्वप्नावस्था हिरण्यगर्भ, जागृत अवस्था वैश्वानर कहलाता है। इन अवस्थाओं से परे निर्गुणावस्था जो है वही शुद्ध परब्रह्म है।

यद्यपि सृष्टि के विकास की कल्पना सांख्यानुसार ही है किन्तु इसमें पंचकृत महाभूतों से सृष्टि उत्पन्न होती है। जब अज्ञानोपहित चैतन्य तमोगुण प्रधान होता है, तब आकाश, आकाश से वायु, उससे अग्नि, उससे जल एवं जल से पृथिवी उत्पन्न होती है। ये भूत तीनों गुणों से युक्त होते हैं। ये ही सूक्ष्म भूत कहलाते है। इन्हीं से क्रमशः सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है। फिर १७ अवयवों से युक्त सूक्ष्म शरीर या लिङ्ग शरीर पैदा होता है। १० इन्द्रिय + ५ वायु + बुद्धि + मन यही १७ अवयव हैं। इनमें ज्ञानेन्द्रियों से युक्त बुद्धि विज्ञानमय कोष कहलाता है। यही व्यावहारिक दशा में जीव कहलाता है। ज्ञानेन्द्रिय तथा मन मिल कर मनोमय कोष

कहलाता है। कर्मेन्द्रिय तथा पंच प्राणमय कोष होता है। (प्राण-अपान, व्यान, उदान और समान सांख्य में नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनञ्जय भी अन्य पांच वायु हैं) इन कोषों में विज्ञानमय ज्ञान शक्तिमान कर्त्तृ रूप हैं। मनोमय कोष इच्छा शक्तिमान करण रूप है। प्राणमय कोष क्रिया, शक्तिमान कार्य रूप होता है। इसी कोश-त्रय को सूक्ष्म शरीर कहते हैं।

स्थूल सृष्टि के विकास में पंचीकरण प्रकार का ही महत्व है। पंचीकृत महाभूतों से १४ लोक, ४ प्रकार की (जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज) स्थूल सृष्टि होती है। अन्न से उत्पन्न होने वाले इस शरीर को अन्नमय कोष कहते हैं। इन सब की वन वृक्ष की तरह व्यष्टि तथा समष्टि होती है। इसी के समष्टि रूप को महाप्रपंच संसार कहा जाता है।

शंकराचार्य ने जगत् के जड़तत्व से उत्पन्न होने का घोर विरोध किया है। क्योंकि अचेतन पदार्थ से जगत् उत्पन्न होता है। इसने सांख्य का भी खण्डन किया है। क्योंकि प्रकृति अचेतन है तथा पुरुष उदासीन एवं निष्क्रिय है। अतः अचेतन प्रकृति का परिणाम जगत् मानना ठीक नहीं। इसी प्रकार न्याय वैशेषिक मत से अदृष्ट के संयोग से परमाणु समूह द्वारा जगत् माना जाता है। अदृष्ट अचेतन है। अतएव परमाणुओं का संयोग अदृष्ट द्वारा असम्भव है। यदि परमाणु गतिशील हैं, तो प्रलय न होगी, और यदि निष्क्रिय हैं तो सृष्टि न होगी। रूप, रस, गन्धादि उत्पन्न करने वाले परमाणु सगुण ही हैं। सगुण पदार्थ न तो नित्य और न सूक्ष्म ही होता है। उनको स्थूल एवं अनित्य मानने से स्ववचन निरुद्धता आ जाती है। अतः यही मत समीचीन है। रामानुज ने जगत् को सत्य माना है, विवर्त्त नहीं।

उपनिषदों में सृष्टि का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—

ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार—जब इस सृष्टि की रचना नहीं हुई थी, तब पहले पहल 'आत्मा' ही थी, दूसरी कोई चीज झपकता तक न थी। 'आत्मा' ने 'ईक्षण' किया, सब कुछ बारीकी से विचार ही विचार में देख लिया कि 'लोकों' का अर्थात् नाना रूप सृष्टि का, किस-किस रूप में सृजन करूँ। १. उसने चार लोकों को रचा—'अम्भस्', 'मरीची', 'मर' और 'आपस' द्युलोक से परे और द्युलोक तक का लोक है, वह 'अम्भस्'-लोक है, यह पृथिवी जिसमें प्राणी उत्पन्न होते हैं और मरते हैं, यह मर्त्यलोक 'मर'-लोक है, पृथिवी के भी जो नीचे है वह 'आपः' लोक है। २. इन लोकों की रक्षा के लिये लोकपालों की रचना की। 'जल' से 'पुरुष' निकाला गया, इस वाक्य में 'पुरुष' का अभिप्राय विराट्-पुरुष से है, उस पुरुष से जिसे जगह-जगह 'हिरण्यगर्भ' कहा गया है। ब्रह्म ने विराट-पुरुष को तपाया। अभी तक विराट्-पुरुष एक अगाढ़ रूप में था, पुरुषाकार तो था, परन्तु उनके मुख, नाक, आँख, कान आदि द्वार खुले नहीं थे, बन्द थे। तपाने से उसका मुख खुल गया, जैसे अण्डा खुल जाता है। विराट्-पुरुष से वाक्-शक्ति प्रकट हुई, और उस महा पुरुष की वाक् से

वाणी का देवता 'अग्नि' प्रकट हुआ। नासिकायें खुल गई, नासिकाओं से प्राण शक्ति प्रकट हुई, और उस महापुरुष के प्राण से प्राण का देवता 'वायु' प्रकट हुआ। आँखों के गोलक खुल गये, उनसे चक्षु-शक्ति प्रकट हुई और चक्षु से चक्षु का देवता 'आदित्य' प्रकट हुआ। कान खुल गये, कानों की श्रोत्र शक्ति प्रकट हुयी और श्रोत्र से श्रोत्र का देवता 'दिशायें' प्रकट हुयीं। त्वचा खुल गयी, त्वचा से लोम पैदा हुये और लोम से औषधि तथा 'वनस्पति' प्रकट हुयीं। हृदय खुल गया, हृदय से मन प्रकट हुआ, और मन से मन का देवता 'चन्द्रमा' प्रकट हुआ। नाभि खुल गई, नाभि से अपान प्रकट हुआ, अपान का देवता 'मृत्यु' प्रकट हुआ। शिश्न खुल गया, उससे उत्पादन-शक्ति प्रकट हुयी और उत्पादन-शक्ति से उसका देवता 'जल' प्रकट हुआ। जल ही उत्पादन शक्ति का आधार है। इस प्रकार चार लोकों को बनाकर 'अग्नि', 'वायु', 'आदित्य', 'दिशायें', 'वनस्पति', 'चन्द्रमा', 'मृत्यु' तथा 'जल'—इन आठ लोकपालों को अर्थात् 'ब्रह्माण्ड' के आधारभूत आठ तत्त्वों को विराट्-पुरुष से प्रकट होने के बाद भूख-प्यास भी उनके साथ जोड़ दी गयी। विधाता ने उनके लिये गाय-अश्वादि को बनाया, फिर वह उनके लिये 'पुरुष' को रचकर लाया है। विधाता ने उन्हें कहा, जिस-जिस का जो ठिकाना है, वह उस-उस में प्रविष्ट हो जाये। ३ अग्नि वाणी होकर मुख में प्रविष्ट हो गयी, वायु प्राण होकर नासिकाओं में प्रविष्ट हो गया, आदित्य चक्षु होकर आँखों में प्रविष्ट हो गया, दिशायें श्रोत्र होकर कानों में जा घुसीं, औषधि तथा वनस्पति लोम होकर त्वचा में जा पहुँचे। चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हो गया, मृत्यु अपान होकर नाभि में प्रविष्ट हो गया। जल वीर्य होकर जनन-प्रदेश में प्रविष्ट हुये। अग्नि की हवि द्वारा, वायु की ओषजन द्वारा, आदित्य की रस द्वारा, दिशाओं की अपचय द्वारा, औषधि की खाद द्वारा, चन्द्र की सूर्य के प्रकाश द्वारा, मृत्यु की अपचय द्वारा, जल की वाष्प द्वारा, भूख-प्यास शान्त होती है। इन देवताओं की तृप्ति के लिये 'अन्न' को रचा। अब जीवात्मा की बारी आयी। उसने 'ईक्षण' किया। मेरे बिना पुरुष का यह भौतिक देह किस प्रकार रहेगा? अब वह सोचने लगा, मैं इस शरीर में किस प्रकार प्रवेश करूँ? यह सोचकर जीवात्मा देह की जो 'सीमा' है जहाँ देह समाप्त हो जाता है, उस कपाल को दो भागों में विदीर्ण करके, फाड़कर इसी के द्वारा देह में प्रविष्ट हो गया। इसलिये इस द्वार को 'विदृति' कहते हैं। 'विदृति' का अर्थ है, 'विदारण, फाड़ना', ये दोनों कपाल अलग-अलग हैं, फटे हुये हैं। शरीर में जब जीवात्मा इस स्थान में रहता है, तब उसे परम-आनन्द प्राप्त होता है। इसलिये इस स्थान को 'नान्दन' भी कहते हैं। जीवन के समय 'नान्दन'—स्थान में जीवात्मा का वास, और मृत्यु के समय 'नान्दन'—स्थान में आकर विदृति मार्ग में जीवात्मा का निर्गमन यही योगी का ध्येय है। जीवात्मा में तीनों स्थानों में रहता हुआ शरीर की तीन अवस्थायें उत्पन्न कर देता है। वे अवस्थायें हैं—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति। यथा—

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नाग्यत किंचन मिषत् स ईक्षत् लोकान्नु सृजा इति ॥१॥

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार—सृष्टि के प्रारम्भ में 'सत्' ही था—एक, अद्वितीय। कई आचार्यों का कहना है कि सृष्टि के प्रारम्भ में 'असत्' ही था—एक, अद्वितीय। अगर यह बात मान लें कि सृष्टि के प्रारम्भ में 'असत्' था, तो यह मानना पड़ता है कि उस असत् से 'सत्' हुआ। परन्तु 'असत्' से 'सत्' कैसे हो सकता है? इसलिये यही मानना ठीक है कि प्रारम्भ में 'सत्' ही था—एक, अद्वितीय। उस 'सत्' रूप चेतन-शक्ति ने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ, पैदा हो जाऊँ। उसने 'तेज' को रचा। तेज ने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ, पैदा हो जाऊँ। उसने 'जल' को रचा। जल ने 'अन्न' को रचा। तेज-जल-अन्न—इन तीन भूतों से तीन बीज बनते हैं—अण्डुज, जीवज, उद्भिज। 'अण्डुज' अण्डे से होने वाले, 'जीवज' जरायु से होने वाले, 'उद्भिज' पृथ्वी भेदकर होने वाले। उस 'सत्' रूप चेतन-शक्ति ने तेज-जल-अन्न इन तीन देवताओं से बने अण्डुज-जीवज-उद्भिज—इन तीनों बीजों से जीवात्मा के साथ प्रवेश करके नाम और रूप वाले जगत् का विस्तार कर दिया।

यथा—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेक मेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुर—
सदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सञ्जायत ॥१॥
कुतस्तु खलु सोम्यैवं। स्यादिति होवाच। कथमसतः
सञ्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥२॥

वैशेषिक दर्शन—इस दर्शन में भी सृष्टि का कारण परमाणु को ही माना गया। संसार के सभी कार्य-द्रव्य चार प्रकार के परमाणुओं (पृथिवी, तेज, जल तथा वायु) से बनते हैं। इसी कारण इसे परमाणुवाद भी कहते हैं। इन परमाणुओं का संयोग और विभाग कर्म फलानुसार होता है। आकाश, दिक्, काल, मन तथा आत्मा नित्य द्रव्य हैं। इनके परमाणु नहीं होते हैं। अतः इनकी न सृष्टि होती है न संहार। परमाणुओं के द्वियणुकों, त्र्यणुकों तथा उनके वृहत्तर संयोगों का ही परिणाम यह भौतिक जगत् है। सृष्टि और संहार के कर्त्ता महेश्वर हैं। उन्हीं की इच्छा से सृष्टि और प्रलय होती है। यह प्रवाह अनादि काल से चला आता है। प्रत्येक जीवात्मा अपने पूर्व जन्म के संस्कारों के साथ अदृष्ट रूप से धर्माधर्म के साथ विद्यमान रहती है। परमात्मा की इच्छा से सृष्टि उत्पन्न होती है और जीवों के 'अदृष्ट' कार्योन्मुख हो जाते हैं और परमाणु में एक प्रकार की क्रिया उत्पन्न होती है और परस्पर संयुक्त होते हैं। विजातीय परमाणुओं के संयोग से सृष्टि का विकास होता है। प्रत्येक द्रव्य सृष्टि में इसी क्रम का अनुकरण होता है।

जैन दर्शन—जैन दर्शन में सात प्रकार के तत्त्व बतलाये गये हैं। इन्हीं तत्त्वों

से जगत् की समान वस्तुओं का परिणाम 'जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा तथा मोक्ष हैं। इनमें जीव और अजोव दो द्रव हैं। चेतन द्रव्य को जीव कहते हैं। यह जीव का स्वाभाविक लक्षण है। नैसर्गिक रूप से प्रत्येक जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सामर्थ्यादि गुणों से युक्त होता है किन्तु आवरणीय कर्मों के द्वारा स्वाभाविक गुणों का अभ्युदय नहीं होता है। यद्यपि जीव अमूर्त्त है किन्तु दीपक की भाँति अपने निवास स्थान भूत शरीर को प्रकाशित करता है। दूसरे अजीव पदार्थ के ४ भेदों में एक पुद्गल भेद होता है। यह भूत सामान्य के लिये व्यवहृत किया जाता है। पूरयन्ति गलन्ति च पद्गल अर्थात् पद्गल उन द्रव्यों की संज्ञा है जो प्रचय रूप से शरीर के निष्पन्न करने वाले होते हैं और प्रचय के विनाश होने पर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इसके दो स्वरूप हैं—अणु, संघात। अणुओं के प्रचय रूप से एकत्रीकरण द्वारा शरीरादि निष्पन्न होते हैं। इनकी दृष्टि में अणु संघात के द्वारा ही शरीर, मन, प्राण आदि की सृष्टि होती है। इन पदार्थों में स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण ४ गुण होते हैं। जैन-दर्शन में शब्द को गुण नहीं माना गया है। उद्योन, ताप, छाया, आतप, तम, बन्द, भेदादि के समान शब्द भी पुद्गल के आगन्तुक परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होता है। इन अणु प्रचयों के छिन्न-भिन्न होने पर प्रलय हो जाती है।

न्याय-दर्शन—इसके अनुसार परमाणु जगत् के उपादान कारण हैं और ईश्वर निमित्त कारण। इन्हीं के संयोग से द्वयणुक त्र्यणुक बनते हैं। परमाणु नित्य हैं तथा जड़ हैं। ईश्वरेच्छा से परमाणुओं में स्पन्दन तथा क्रिया उत्पन्न होती है। इसके अनुसार आरम्भक संयोग उत्पन्न होता है। फिर सृष्टि होती है। यह सृष्टि-कार्य उपादान कारणों के ऊपर अवलम्बित होता है। किन्तु उपादान कारणो पर आश्रित रहने वाला ईश्वर सर्वशक्तिमान् तथा परम स्वतन्त्र नहीं हो सकता है। यह न्याय-दर्शन का दोष है, जो वेदान्त में दूर होता है। वेदान्त में ईश्वर इस सृष्टि का उपादान और निमित्त कारण दोनों ही है। इस दर्शन में नौ द्रव्यों में से आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन को नित्य माना गया है। परमाणु भी नित्य है। अतः यह समीचीन नहीं है। क्योंकि वास्तविक दर्शन वही होगा जो एक नित्य पदार्थ की सत्ता को स्वीकार करेगा। इस प्रकार ईश्वर परमाणुओं से जगत् की सृष्टि करता है। वह इस सृष्टि के लिये उपादान कारणों पर निर्भर रहता है। किन्तु यह समीचीन नहीं है।

बौद्ध-दर्शन—इसके मतानुसार आत्मा और जगत् अनित्य हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील तथा नाशवान् है। किसी भी वस्तु की उत्पत्ति किसी कारण से ही होती है। अतः कारण के नष्ट होने पर उस वस्तु का भी नाश हो जाता है। अतः जो नित्य तथा स्थायी मालूम पड़ता है वह भी विनाशी है। जहाँ जन्म है वहाँ मरण भी है। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि प्रतिक्षण होने वाले परिवर्तन का ही परिणाम है। अणुओं के द्वयणुकादि संयोग द्वारा यह सृष्टि विकसित होती है।

यह सृष्टि का कार्य सर्वदा चलता रहता है। पृथिवी, जल, तेज, वायु ये ही चार भूत हैं। आकाश को यह भी नहीं मानते हैं। उन्हीं भूतों के अन्तिम उपादान 'अणु' हैं चार प्रकार के होते हैं। जिस प्रकार दीपक की लौ प्रत्येक क्षण अस्त होकर दूसरी लौ बनने का कारण बनती है, उसी प्रकार सृष्टि का क्रम है। अणुओं के पृथक् होने पर प्रलय हो जाती है। इस प्रकार निरन्तर परिवर्तन ही सृष्टि का विकास एवं विनाश है।

चार्वाक-दर्शन— अनीश्वरवादी चार्वाक के अनुसार पृथिवी, जल, तेज, वायु ये ही ४ तत्व जगत् के आधार हैं। यह आकाश तत्व को नहीं मानता क्योंकि यह शून्य होने के कारण सत्तात्मक पदार्थ नहीं है। इन चार तत्वों से ही बाह्य जगत् इन्द्रिय एवं भौतिक शरीर उत्पन्न होते हैं। इन भूतों के संस्थान विशेष से ही शरीर में चैतन्य या प्राण उत्पन्न होता है। जिस प्रकार कि पान, चूना कत्थादि से लाल रंग बन जाता है, यद्यपि उनमें लाल रंग पृथक् रूप से नहीं है, उसी प्रकार भौतिक तत्वों के सम्मिश्रण से सृष्टि का विकास होता है। शरीर के नष्ट होने पर भी चैतन्य नष्ट हो जाता है। मृत्यु के बाद कुछ भी नहीं रहता है। इस प्रकार यह विश्व अकस्मात् उत्पन्न होने वाला भूत-चतुष्ट्य का संग्रह है। मनुष्य को इसका रहस्य ज्ञात नहीं हो सकता है। अतएव इस रहस्य को समझना विडम्बना है।

प्रश्न ३—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा एवं वेदान्त के अनुसार मोक्ष के स्वरूप का उल्लेख करिये तथा अन्य दर्शनों से समानता कीजिए।

[का० ८३, मे० ८६, आ० ७४, ७७, ८५, ९०, दि० .६, ८४, ८६, ब० ८५, ८८, ९२, गो० ७८, ९०] **(M. Imp.)**

यह चराचर जगत् दुःख-सुख विषादादि से परिपूर्ण है। इस प्रपञ्चमय सृष्टि में आवागमन चलता रहता है। अतः इन विभिन्न प्रकार के कष्टों से मुक्ति प्राप्त करने के लिये कुछ विशिष्ट साधनों द्वारा ऐसी अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है जहाँ निश्चित रूप से सांसारिक दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। यह दशा मोक्ष कहलाती है। इसका जन्म निराशावाद में हुआ। वेदों के आशावाद में इसका अस्तित्व नहीं था। भारतीय दर्शनों का परम लक्ष्य मुक्ति ही है और इसी निराशावाद से इनका प्रादुर्भाव हुआ। यथा—

'दुःखत्रयाभिघाता जिज्ञासा तदपघातके हेतो।

यद्यपि वेदों में मृत्यु के बाद यमलोक (स्वर्गलोक) को सभी प्राप्त करते हैं, जहाँ अनन्त काल तक आनन्द का उपभोग करते हैं। यथा—

सं गच्छस्व पितृभिः स यमेन इष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चा॥

किन्तु उपनिषदों से मुक्ति के सिद्धान्त का विकास हुआ जो परवर्त्ती वेदान्तों में अधिक विकसित हो गया। विभिन्न दर्शनों के अनुसार मोक्ष का स्वरूप भी विभिन्न

रूपों में है। किन्तु सभी का मूलोद्देश्य दुःख की आत्यान्तिक निवृत्ति ही है। केवल चार्वाक-दर्शन पूर्णतः वेद-विरोधी, भौतिक एवं नास्तिक है। उसमें पुनर्जन्म की मान्यता नहीं है। संक्षेपतः इन सभी के विचारों का प्रतिपादन किया जाता है—

चार्वाक— ये वेद-वाक्यों को प्रमाण नहीं मानते हैं। परलोक की कल्पना भी इनकी दृष्टि में आकाश-कुसुम के समान उपहासास्पद है। इस प्रत्यक्ष जगत् से परे कुछ नहीं है, यही पूर्ण सत्य है। यह जीवन ही चरमोद्देश्य है। मृत्यु के बाद पुनर्जन्म नहीं होता है। '**अतः मरणमेवापवर्गः**' और तभी दुःखों की निवृत्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं।

बृहदारण्यक में न '**प्रेत्य संज्ञाऽस्ति**' वाक्यों को इसने अपना आधार बनाया है। अन्न पानी के उपयोग एवं अनुपयोग से शरीर में चेतना का उदय तथा ह्रास होता है। स्थूलोऽहं. कृशोऽहं इत्यादि अनुभवों से भी चैतन्य स्थूल शरीर का धर्म है। "**चैतन्य विशिष्टः कायः पुरुषः**" यह बृहस्पति सूत्र ही इनको मान्य है। अतएव जब शरीर नष्ट हो जाता है, तो शरीर के धर्म चैतन्य का भी नाश हो जाता है। सुख-दुःखादि शरीर का धर्म है। अतः स्वाभाविक प्रकृति को दबाकर सुख-दुःखादि से रहित अवस्था की कल्पना करना मूर्खता है—

त्याज्यं सुख विषयसंगम जन्म पुंसां
दुःखोपसृष्टिमिति मूर्खविचारणैषा।
व्रीहित् जिहासति सितोत्तमतडुलाढ्यान्
को नाम भोस्तुदकणोपहितात् हितार्थी॥

अतः इसके मतानुसार—

न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिक।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायकः॥

अन्त में मरण ही मोक्ष है। "**भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुतः**"? इसी के उपासक हैं। सुख की प्राप्ति ही स्वर्ग है और दुःखोपलब्धि ही नरक है। अर्थ और काम ही प्रधान पुरुषार्थ हैं।

जैन-दर्शन—इसके अनुसार जीव चैतन्यमय तथा अनन्त ज्ञान विशिष्ट है। उसमें अनन्त वीर्य एवं अनन्त शक्ति है। उसका आन्तरिक स्वरूप कर्मों के आवरण से छिप जाता है। अपनी कर्मेच्छाओं के द्वारा वह पुद्गल को आकर्षित करता है। अपने वास्तविक रूप को आच्छादित कर लेता है। यही बन्धन है। कार्यों का निराकरण ही मुक्ति का साधन है। इसके लिये तीन साधन हैं—(१) सम्यक्-दर्शन, (२) सम्यक्-ज्ञान, (3) सम्यक्-चरित्र। इन्हीं साधनाओं के अभ्यास से वासनाओं का नाश होता है तथा जीव पुद्गल के बन्धन से मुक्त होकर अनन्त चतुष्टय (अनन्त दर्शन, ज्ञान, शक्ति, आनन्द) को उपलब्ध करता है। यही मोक्ष की अवस्था है। मोक्ष की प्राप्ति

के लिये १४ गुणस्थानों का आचरण परमावश्यक है। कर्मों का क्षय ही मोक्ष है। यथा —

"बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः"

बौद्ध-दर्शन— गौतम बुद्ध ने जरामरण, रोगादि को दूर करने के साधनों को तपस्या द्वारा प्राप्त किया। उनको बोधि या ज्ञान की प्राप्ति हुई, जिसका सार उनके चार आर्य सत्यों में है—(१) दुःख है, (२) दुःख का कारण है, (३) दुःख का निरोध है, (४) दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद अर्थात् साधन। यह दृश्यमान जगत् दुःखमय है। इससे निर्वाण पाने के लिये (सम्यक् दृष्टि, संकल्प, वाक्, कर्मान्त, आजीव व्यायाम, स्मृति, समाधि) अष्ट मार्ग का प्रतिपादन किया जाए। इन्हीं से अविद्या और तृष्णा का नाश होता है और जीव को निर्मल बुद्धि, दृढ़ता तथा शान्ति मिलती है। इन्होंने पंचशील तथा समाधि पर अधिक जोर दिया है। इन्हीं उ[illegible] के द्वारा दुःखों का नाश होता है और जीवन को सत्य स्वरूप का ज्ञान होकर पुनर्जन्म से छुटकारा मिलता है। अतः सांसारिक दुखों की निवृत्ति ही निर्वाण है। नागार्जुन ने निर्वाण को भावाभाव से परे अनिर्वचनीय पदार्थ कहा है, यह परम तत्त्व है। इसका स्वरूप निम्न प्रकार है—

"अप्रहाणम् असंप्राप्तम् अनुच्छिन्नम् आशाश्वतम्।
अनिरुद्धन् अनुत्पन्नम् एतन्निर्वाणमुच्यते"।

न्याय वैशेषिक— इसमें अनेक आत्मा हैं। अतः ये तत्त्व ज्ञानपूर्वक मुक्ति प्राप्त करते हैं। न्याय-दर्शन में आत्मा, देह, बुद्धि, मन, प्रेत्यभाव, फल, दुःख अपवर्गादि को प्रमेय माना जाता है। इसका लक्ष्य आत्मा को शारीरिक बन्धनों से मुक्त करना है। आत्मा, शरीर, और मन से भिन्न है। यही सांसारिक विषयों में आसक्त या अनासक्त होता है। कर्मों के अच्छे और बुरे फलों का भोग करना पड़ता है। इन्हीं के कारण वह दुःखग्रस्त होती है, यही बन्धन है। तत्व ज्ञान के द्वारा ही सभी दुखों का अन्त हो जाता है और जन्म-मरण से छुटकारा मिल जाता है और मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इस दशा को अपवर्ग कहते हैं। मुक्त होने पर आत्मा चैतन्यहीन हो जाती है, और उसे सुख-दुःखादि की अनुभूति नहीं होती है; चेतनता उसका आगन्तुक धर्म है, स्वाभाविक नहीं। वैशेषिक के मतानुसार भी तत्वज्ञान के द्वारा ही अदृष्ट क्षय हो जाने पर क्रम-चक्र छूट जाता है और शरीर तथा आत्मा का सम्बन्ध विच्छेद होकर सुख-दुःख से निवृत्ति हो जाती है और जीवों को अपवर्ग की प्राप्ति होती है। मोक्षावस्था में "काष्ठकुड्यादिवत्" सुख-दुःखादि की निवृत्ति मानी है, जिसका खंडन वेदान्त में हुआ है। न्याय में "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग" वैशेषिक में "दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्षः" है।

सांख्यदर्शन में (प्रकृति प्रधान) पुरुष का संयोग ही सृष्टि है और वियोग ही मुक्ति है। समग्र संसार दुःखमय है, जिसकी आत्यन्तिक निवृत्ति तत्व-ज्ञान से ही सम्भव है, अन्य लौकिक उपायों से नहीं। संसार के सभी विषय परिणाम हैं जिनके

कारण सुख-दुःख-विषादादि का अनुभव होता है। यद्यपि पुरुष निरपेक्ष है फिर भी अज्ञान के कारण वह अपने को शरीरादि के बन्धन में फंसाकर अनेक दुःखों से पीड़ित होता है। वस्तुतः सुख-दुःखादि मन और बुद्धि के धर्म हैं, पर अहंकारवश आत्मा (पुरुष) उनका अपने ऊपर आरोप कर लेना है। यही बन्धन है। विवेक ख्याति होने पर तत्वाभ्याम से कैवल्य-ज्ञान का उदय होता है और दुःखादि का अन्त होता है। उस समय पुरुष को संसार से कोई अनुराग नहीं रहता है। वह केवल संसार-चक्र का साक्षी या द्रष्टा रह जाता है, इसी अवस्था को मुक्ति या कैवल्य कहते हैं। ये मुक्ति के दो स्वरूप स्वीकार करते हैं। विवेक ज्ञान के अनन्तर अहंकार शून्य पुरुष जिस मुक्ति का अनुभव करता है वही जीवन्मुक्ति है और शरीर त्याग के बाद जो मुक्ति मिलती है वह विदेह मुक्ति है। अपवर्ग की सिद्धि होने पर प्रकृति का व्यापार स्वतः समाप्त हो जाता है। "वियक्ति बोधात् सृष्टि निवृत्तिः प्रधानस्य चरवत्पाके"।

योगदर्शन—'चित्तवत्ति निरोधः योगः' बाह्य जगत् से चित्त की वृत्ति का निरोध करना ही योग है। सांख्य और योग में बहुत साम्य है। सांख्य के अनुसार कैवल्य की प्राप्ति विवेक-ज्ञान से होती है और यह विवेक-ज्ञान योग से ही प्राप्त हो सकता है। योग में चित्त की पाँच अवस्थायें मानी गयी हैं—(१) क्षिप्त, (२) मूढ़, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र, (५) निरुद्ध। प्रथम तीन प्रकार की दशाओं में चित्त चंचल, अभिभूत तथा अशान्त बना रहता है, अन्तिम दो दशाओं में योगाभ्यास हो सकता है। इसके आठ अंग माने गये हैं—यम, नियम, आसान, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। इन्हीं के द्वारा आत्मा शनैः शनैः सांसारिक विषय-वासनाओं से निर्लिप्त होता है। जब चित्त की वृत्ति रजस्तमः प्रधान रहती है, आत्मा को नाना क्लेशों को भोगना पड़ता है, किन्तु सत्व प्रधान होने पर विवेक की उत्पत्ति होती है। अतः अष्टांग के द्वारा ही सासारिक बन्धन से मुक्ति मिल सकती है और अन्त में ब्रह्म-साक्षात्कार होने पर कैवल्य पद की प्राप्ति होती है।

मीमांसा ने "प्रपंच सम्बन्धविलयो मोक्षः" अर्थात् जगत् के साथ आत्मा का सम्बन्ध न रहना ही मोक्ष माना है। यह दर्शन वेदपूरक है, इसका पूर्व मीमांसा भी कहते हैं। इसमें कर्मकांड का प्रतिपादन हुआ है। वेद विहित कर्मों के द्वारा ही विशुद्ध सुख की प्राप्ति हो सकती है। शुभाशुभ कर्म का फल भोगना अवश्य पड़ता है। आत्मा नित्य किन्तु चेतनाहीन है। वह निम्न तीन बन्धनों से जगत् में लिप्त रहती है—(१) भोगायतन शरीर, (२) भोग-साधन इन्द्रिय, (३) भोग-विषयक-पदार्थ यज्ञादि कर्मों के द्वारा ही इन बन्धनों का क्षरण होता है और एक अपूर्व शक्ति प्राप्त होती है। इन बन्धनों के आत्यन्तिक विनाश को ही पुरुषार्थ या मोक्ष कहते हैं। मोक्षावस्था में आत्मा को आनन्दानुभव नहीं होता, क्योंकि वह अचेतन है, केवल शरीरादि के सम्पर्क से ही उसे सुख-दुःखादि का अनुभव होता है। मोक्ष की दशा में शरीरादि नहीं रहते हैं और आत्मा सुख-दुःख से परे अपने विशुद्ध रूप में अवस्थित हो जाता है। मोक्ष या पुरुषार्थ के निमित्त नित्य नैमित्तिक कर्म का अनुष्ठान आवश्यक

है और ये ही मुक्ति प्रधान हेतु हैं। भट्ट के मत में प्रपंच सम्बन्ध विलय ही मोक्ष है। किन्तु प्रभाकर के मत में धर्माधर्म के निःश्रेयस नाश से उत्पन्न देह का आत्यान्तिक उच्छेद ही मुक्ति है। इसमें धर्म का प्रमुख स्थान है। यथा "नियोगसिद्धिरेव मोक्षः" मोक्ष दशा में आत्मा शरीरादिकों से विच्छिन्न हो जाता है। संसार की अनुभूति इस दशा में भी रहती है, केवल बन्ध का नाश होता है।

वेदान्त दर्शन के अनुसार जीव का बन्धन अविद्या के कारण होता है। यह सम्पूर्ण प्रपंचमय जगत् असत्य, जड़ और दुःखमय है। केवल ब्रह्म ही सच्चिदानन्द-स्वरूप है। जीव और ब्रह्म एक ही हैं। किन्तु अज्ञानावरण के द्वारा वह अपनी पृथक् सत्ता का अनुभव करता है और अहं एवं ममता की भावना उसमें उत्पन्न हो जाती है। शरीरादि उपाधियों के सम्बन्ध से वह अपने चैतन्यस्वरूप को विस्मृत कर देता है। उस समय माया के वशीभूत हुआ वह कामादि के बन्धनों से व्यथित होता है—

तिरोभूतेस्वात्मन्यमलतरतेजोवतिपुमान्,
अनात्मान मीनावहमिति शरीरं कलयति।
ततः कामक्रोधः प्रभृतिरिपुं बन्धनगुणे,
परं विक्षेपाख्या रजस उरु शक्तिर्व्यथयति॥

इसी माया के द्वारा अध्यास उत्पन्न होता है, जिससे जीव भ्रांत होकर संसार को सत्य समझने लगता है तथा ब्रह्ममय इस प्रपंच में अनेक रूपात्मक जगत् का भ्रम होने लगता है। "सियाराम मय सब जग जानी" इसको भूल जाता है तथा अज्ञान की शृंखला में बद्ध हो जाता है—

अतस्मिंस्तद्बुद्धिः प्रभवति विमूढस्य, तमसा,
विवेकाभावाद्वैस्फुरति भुजगं रज्जुधिषणः।
ततोऽनर्थव्रातो निपतति समागातुरधिकः,
ततो योऽसद्ग्राहः सहि भवति बन्ध शृणु सखे॥

इस प्रकार देह को ही आत्मा मानकर जीव संसार चक्र में घूमता रहता है। मानव जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति ही है, जो ज्ञान से सम्भव है, कर्मों से नहीं। कर्म रूपी बीजों का विद्या रूपी अग्नि से क्षरण होता है। अतः ज्ञान के लिये काम्य और निषिद्ध दोनों कर्मों को छोड़ना पड़ेगा। पूर्व मीमांसा में काम्य कर्मों से ही स्वर्ग प्राप्ति (मोक्ष) कही गयी है। यहाँ (उत्तर मीमांसा या वेदान्त में) उसका निषेध किया गया है। ज्ञान की प्राप्ति के लिये साधन चतुष्टय परमोपयोगी हैं। इन साधनों के प्राप्त होने पर गुरु अध्यारोप तथा अपवाद विधि से ब्रह्म का उपदेश करता है और क्रमशः पंचकोशों से व्यतिरिक्त स्थूल-सूक्ष्म शरीर से पृथक् उसके स्वरूप का बोध कराता है। तदनन्तर "तत्वमसि" "नेह नानाऽस्ति किंचन" "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" "अहं ब्रह्माऽस्मि" आदि महावाक्यों से ब्रह्मवेत्ता गुरु प्रपन्न शिष्यों

को आत्म-ज्ञान कराता है। उस समय जीव और ब्रह्म का भेद मिट जाता है। तुलसीदास ने भी कहा है—

सोऽहमस्मि इति वृत्ति अखंडा।
दीप ज्ञान सोई परम प्रचंडा॥

इस प्रकार इस परोक्षानुभव से उसका सम्पूर्ण अज्ञान नष्ट हो जाता है। पंचकोशों के विलय होने पर नित्यानन्दैकरस स्वरूप परब्रह्म भासित हो जाता है—

पचनामपि कोशानामपवादे विभात्यय शुद्धः।
नित्यानन्दैकरसः प्रत्यग्रूपः परः स्वयं ज्योतिः॥

यही मुक्ति की अवस्था है। वेदान्त में भी मुक्ति के दो स्वरूप हैं।

जीवन मुक्ति में अज्ञान नष्ट हो जाने पर देह इन्द्रिय से क्रियमाण कर्मों का अनुभव करता हुआ भी उनको परमार्थ से अनुभव नहीं करता है। वह संसार में रहते हुए भी कमल पत्र पर स्थित जल बिन्दु के समान निर्लिप्त ही रहता है।

जीवनमुक्त के स्वरूप का निर्देश करते हुये आचार्य शंकर कहते हैं—

मुंजादिषीकादिव दृश्यवर्गात् प्रत्यंचमात्मानमसंगनिष्क्रियम्।
विविच्य तत्र प्रविलाप्य सर्वं, तदात्मना तिष्ठति यः स मुक्तः॥

(2) **विदेहमुक्ति**—तत्व ज्ञान के द्वारा जब अनुभूयमान कर्म क्षीण हो जाते हैं तथा स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों का अन्त हो जाता है। उस विराम को ही विदेहमुक्ति कहते हैं। उस समय अखण्ड ब्रह्म का अनुभव किया हुआ ज्ञानी उस शरीर के नाश पर उसी प्रकार ध्यान नहीं देता जिस प्रकार गौ अपने गले में पड़ी माला पर—

प्रारब्धसूत्रग्रथितं शरीरं प्रयातु वा तिष्ठतु गोरिव स्रक्।
न तत्पुनः पश्यति तत्ववेत्ताः नन्दात्मनि ब्रह्मणि लीनवृत्तिः॥

सांख्य के समान वेदान्त की मुक्ति दुःखों का अभाव मात्र ही नहीं अपितु आनन्द की भावायुक्त दशा है उस समय कोई कामना या इच्छा नहीं रहती, पूर्णरूपेण ब्रह्मानन्दमय हो जाता है।

इस प्रकार विभिन्न दर्शनों के मोक्ष सम्बन्धी विचारों का समीकरण करने पर अद्वैत मुक्ति सिद्धान्त ही अधिक सुन्दर एवं समीचीन प्रतीत होता है।

प्रश्न ४—विभिन्न दर्शनों के कारणवाद का उल्लेख करते हुए उनकी परस्पर तुलना कीजिये।

(आ० ७०, ८४, ८८, ९३, ९८, ९०, ९१, मे० ८१, का० ७९, ९२, गो० ७७, ७९, ८३, दि० ७२, ८५, ८९, ९१) **(M. Imp.)**

बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। अतः प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है, परन्तु इस कारण का क्या स्वरूप है इस विषय में दार्शनिकों में बड़ा मतभेद है। संक्षेप में बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, सांख्य और वेदान्त के विचारों का प्रतिपादन किया जाता है।

बौद्धदर्शन—के अनुसार 'असत् सज्जायते' अर्थात् कारण वस्तु का कार्य तभी उत्पन्न होता है जब कारण वस्तु असत् (विनष्ट) हो जाता है ? जब तक वह वस्तु सत् विद्यमान रहती है तब तक कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता है। यथा बीज से अंकुर तभी उत्पन्न होता है जबकि बीज स्वयं नष्ट हो जाता है। मृतिपण्ड से घट तभी निकलता है जबकि वह नष्ट हो जाता है किन्तु यह समीचीन नहीं है, यह शून्यवाद है।

यथा— **न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।**
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥

न्याय और वैशेषिक—के अनुसार "सदसज्जायते" अर्थात् सत् से असत् की उत्पत्ति होती है। जैसे मृत्तिका से घट की। इसमें मृत्तिका कारण, सत् है घट, कार्य असत् है। यदि मिट्टी में (सत्) घड़े (असत् की कल्पना पहिले से ही कर ही ली जायेगी, तब कार्य कारण में कोई भेद नहीं रहेगा। अतः सत् से ही असत् की उत्पत्ति होती है। यही कारणवाद असत्कार्यवाद है। परमाणुओं को जगत् का कारण माना है। जो नित्य तथा सत् है, इनका कभी विनाश नहीं होता है किन्तु इनके द्वारा उत्पन्न सृष्टि का लय होता रहता है। अतः वह असत् है, किन्तु यह समीचीन नहीं है क्योंकि परमाणुओं को प्रवृत्ति स्वभाव मानने में नित्य प्रवृत्ति होगी और प्रलय का अभाव होगा तथा निवृत्ति स्वभाव मानने पर सृष्टि का अभाव हो जायेगा।

सांख्यदर्शन—के अनुसार "सत सज्जायते" अर्थात् सत् (कारण) से सत् (कार्य) की उत्पत्ति होती है। कार्य अपने कारण में पहिले से ही अव्यक्तावस्था में रहता है, जो व्यक्त होने पर कारण से भिन्न प्रतीत होता है। वस्तुतः दोनों ही अभिन्न हैं। उत्पत्ति से तात्पर्य व्यक्त होता है तथा नाश से अव्यक्त होता है। जो एक परिणाम ही है। जो उनके स्वरूप में परिवर्तन करता है। यही सत्कार्यवाद है। जो दो रूपों में व्यक्त होता है—(१) परिणामवाद, (२) निवर्तवाद। परिणामवाद के अनुसार कार्य की उत्पत्ति का अर्थ है कारण का वस्तुतः रूपान्तरित होना जैसे दूध का परिणाम दही है, मिट्टी का परिणाम घड़ा है। यहाँ दूध और मिट्टी के वास्तविक रूपान्तर या विकार होने से ही दही या घड़े का प्रादुर्भाव है। यह परिणाम तीन प्रकार का होता है।

(१) धर्म परिणाम, (२) लक्षण परिणाम, (३) अवस्था परिणाम।

यह परिणाम व्यक्ताव्यक्त तत्वों में निरन्तर होता है और अन्त में मूल प्रकृति प्रधान या अव्यक्त सृष्टि का कारण है। तीनों गुणों की साम्यावस्था ही सदृशपरिणाम या प्रलय है और उनकी विषमावस्था या विसदृशपरिणाम ही सृष्टि का सृजन है। यही सांख्य शास्त्र का कारणवाद है। यह भी वास्तववादी दर्शन होने के कारण युक्ति संगत नहीं है क्योंकि द्वैत भावना से युक्त है।

वेदान्तदर्शन में 'सदसद्विवर्त्तते' हैं अर्थात् सत् (कारण) असत् (कार्य) में विवर्त होता है। इसके अनुसार कारण में जो विकार या रूपान्तर होता है, वह

वास्तविक नहीं जैसे कि सांख्यमतानुसार है, अपितु एक आभास है, मिथ्या प्रतीति है, जैसे रस्सी में सर्प का अध्यास करना, शुक्ति में रजत का। अतः जगत् मिथ्या है। ब्रह्म का विवर्त्त है। यथार्थतः ब्रह्म का रूपान्तर नहीं होता है। अतः यह मिथ्या प्रतीति रूप है।

अन्यथा भाव दो प्रकार का है—

स तत्त्वतोऽन्यथा प्रथाविकार इत्युदीरितः ॥
अतत्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदीरितः ॥

(१) विकार या परिणाम भाव, (२) विवर्त्तभाव। परिणाम भाव सांख्य मत से सम्बन्धित है।

विवर्त्तभाव अपने स्वरूप का त्याग न करते हुए दूसरी वस्तु की प्रतीति करना यथा रज्जु में सर्प का भाव।

इस प्रकार वेदान्त के अनुसार सत् (ब्रह्म) कारण है, जिससे अनिर्वचनीय (असत्, अज्ञानमय जगत्) की उत्पत्ति होती है। यह जगत् उसका विवर्त्त ही है, परिणाम नहीं है। परिणाम मानने पर ब्रह्म भी अनित्यादि दोषों से युक्त हो जायेगा। केवल ब्रह्मरूपी में पपंच की प्रतीति मिथ्या है। साँख्य द्वैतवादी है और वेदान्त अद्वैतवादी है।

एवमेव बौद्ध न्याय, वैशेषिक, साँख्य तथा वेदान्त के अनुसार कारणवाद का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। निम्न श्लोक से इनके स्वरूप का परिचय मिल जाता है।

आरम्भवादः कणभक्षवादः संघातवादस्तु भवन्तपक्षः।
सांख्यादि पक्षेपरिणामवादी, वेदान्तपक्षवस्तु विवर्त्तवादः ॥

न्याय, बौद्ध और वैशेषिक की विचारधारा स्थूल है। सांख्य ने इस सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया है, प्रथम तीन असत्कार्यवाद की स्थापना करते हैं। सांख्य ने सत्कार्यवाद की स्थापना कर कार्य-कारण को व्यक्ताव्यक्त (परिणाम) ही माना है स्वरूप भेद है, वस्तुतः दोनों अभिन्न हैं। इसके लिए निम्न कारिका प्रस्तुत की है।

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

इस सांख्य निर्मित भूमि पर वेदान्त की प्रतिष्ठा की गई है। इसके कारणवाद (विवर्त्त) की विचारधारा सर्वश्रेष्ठ है। सांख्य से भी अधिक शुद्ध परिष्कृत एवं सूक्ष्म है। परिणामवाद इसकी शिला है।

विवर्त्तवादस्य हि पूर्व भूमि, वेदान्तवादे परिणामवादः।
प्रतिष्ठितेऽस्मिन्परिणामवादे, स्वयं सः आभाति विवर्त्तवाद ॥

इसी विवर्त्तवाद की प्रतिस्थापना महाकवि भवभूति ने अपने 'उत्तर रामचरित' में किस प्रकार की है।

एको रसः करुण एव निमित्तभेदान् पृथक्-पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान् ।
आवर्त्त बुद्बुद् तरंगमयान विकारान् अम्भोयथा सलिलमेव तु तत्समग्रम् ॥

प्रश्न ५—न्याय वैशेषिक, सांख्य एवं वेदान्त के अनुसार उनकी आत्मा सम्बन्धी विचारधारा का उल्लेख करते हुए अन्य दर्शनों के भी विचार लिखिए।

(गो० ८६, ८८, ८३, मे० ६०, का० ८६, ६२, आ० ७५, ८६, ६३, बना० ७३, ७६, ८५, ६१, दि० ५७, ६१, ६७, ७३) **(M. Imp.)**

नायमात्माप्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

वेदान्त ने आत्मा तथा सांख्यदर्शन के पुरुष सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन करने से पूर्व आत्मा विषयक अन्य दर्शनों का भी अवलोकन करना अप्रासंगिक न होगा। अतः संक्षेप में इन विभिन्न दर्शनों के सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

चार्वाकों का आत्मा सम्बन्धी विचार—ये पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु इन तत्वों से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं। इनके अनुसार शरीर ही प्रियतम पदार्थ है। 'स्थूलोऽहम्' कृशोऽहम् इत्यादि अनुभवों से तथा "स वा पुरुषोऽन्नरसमयः" इत्यादि श्रुति वाक्यों से स्थूल शरीर ही आत्मा है। लोकायत चार्वाक इन्द्रियों को प्राणात्मवादी प्राणों को मन आत्मवादी मन को आत्मा स्वीकार करते हैं।

बौद्ध जैन—बौद्ध आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं, उनके विचारों में पान, सुपारी, चूना, कत्थादि मिलकर मुख में एक नया रंग पैदा कर देते हैं वैसे ही जल, पृथ्वी आदि के सम्मिश्रण से शरीर चेतनवत प्रतीत होता है। आत्मा की वास्तविक सत्ता नहीं है। विज्ञानवादी बौद्धों ने 'अहं कर्त्ता, अहं भोक्ता' आदि प्रमाणों के आधार पर बुद्धि को ही आत्मा माना है। आत्मा पृथक् कोई तत्व नहीं है। अनीश्वरवादी जैन आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं। इनकी दृष्टि में जीव ही आत्मा या चेतन है जो लोक में जीव नाम से व्यवहृत होता है। इनमें शारीरिक, मानसिक तथा इन्द्रियजन्य शक्ति है। इसके बद्ध और मुक्त दो भेद हैं। जीव में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन तथा अनन्त सामर्थ्य होती है, पर शुभाशुभ कर्मों के कारण इन गुणों पर आवरण पड़ा रहता है, जो सात्विक कर्मों से नष्ट होता है और उसे स्वरूपोपलब्धि हो जाती है। जीव अनन्त हैं—"जीव अनेक एक श्रीकंता" तुलसीदास मतावलम्बी बौद्धों ने सर्वभाव रूप शून्य ही को आत्मा कहा है। पृथक् से वह कोई तत्व नहीं है।

न्याय और वैशेषिक—आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में न्याय और वैशेषिक में कोई अन्तर नहीं है। ज्ञान का जो अधिकरण है वही आत्मा है। वही सभी का द्रष्टा, भोक्ता, सर्वज्ञ, नित्य तथा सर्वव्यापक है। बाह्य इन्द्रियों से उसका प्रत्यक्ष नहीं है। मानसिक प्रत्यक्ष भी सभी नहीं मानते हैं किन्तु इच्छा प्रीति, द्वेष, सुख दुःखादि

के अनुभव और स्मृतियों से ही आत्मा का ज्ञान होता है क्योंकि अनुभव और स्मृत्ति चेतन (आत्मा) के धर्म हैं और गुण धर्म बिना द्रव्य के ठहर नहीं सकते, अतः आत्मा रूप द्रव्य के ही सुख दुःखेच्छादि गुण दृष्टिगोचर होते हैं। इन्द्रियादि से आत्मा भिन्न है।

मीमांसक—आत्मा कर्त्ता तथा भोक्ता दोनों ही है, वह व्यापक है तथा प्रति शरीर में भिन्न है। ज्ञान सुख दुःखेच्छादि गुण उसमें समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, न्याय वैशेषिक में आत्मा निष्क्रिय है। किन्तु मीमांसक इसमें क्रिया के अस्तित्व को मानते हैं। आत्मा के परिणाम अर्थात् रूप परिवर्तन होता है फिर भी वह नित्य पदार्थ है। उसमें चित्त + अचित् अंश होते हैं, चित्त से ज्ञान का अनुभव करता है और अचित् से परिणाम को प्राप्त होता है। प्रभाकर मत में 'अहमस्मि जानामि' से आत्मा का ज्ञान होता है पर कुमारिल के मत में आत्मा को ज्ञान का कर्त्ता तथा विषय दोनों ही माना है।

सांख्य और योग—सांख्य पुरुष की सत्ता को स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है। इनके मत में पुरुष अन्य सभी तत्वों से भिन्न है। शरीरादि से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। वह स्वतन्त्र, शुद्ध, चैतन्य स्वरूप एवं ज्ञाता है। प्रकृति जगत् को उत्पन्न करती है और पुरुष (आत्मा) साक्षी की तरह उसकी लीला देखता है। वह स्वतन्त्र, शुद्ध, चैतन्य स्वरूप एवं ज्ञाता है। प्रकृति जगत् को उत्पन्न करती है। और पुरुष (आत्मा) साक्षी की तरह उसकी लीला देखता है। वह उदासीन सुख दुःख से रहित, अधिकारी कूटस्थ नित्य एवं व्यापक होता है। अत्रिगुण, चेतन, साक्षी, विवेकी, विषयी तथा असामान्य है। इसे बुद्धि के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से कोई नहीं देख सकता है। इसका प्रमाण शब्द या आगम ही है। भगवद् गीता की तरह सांख्य में तीन प्रकार के पुरुषों का विचार किया गया है—निर्लिप्त, बद्ध, मुक्त।

बद्ध और मुक्त पुरुष अनेक हैं जो जन्म-मरण के चक्कर में फँसे रहते हैं। यथा:—

जन्ममरणकरणानां, प्रतिनियमादयुगपदप्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥

इसी आधार पर सांख्य में पुरुषबहुत्ववाद को माना गया है। परन्तु सम्यक् रूप से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त कारिका त्रिगुणातीतज्ञ पुरुष के लिए नहीं दी जा सकती। उसका आवागमन से कोई सम्बन्ध नहीं। न वह बद्ध है न मुक्त।

यथा—"पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परागतिः"
तस्मान्नबध्यते नाऽपि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति॥

अतः स्पष्ट है कि बद्ध पुरुष (जीवात्मा) अनेक हैं। जीवात्मा या बद्ध पुरुष के अस्तित्व की सिद्धि के लिए अग्र कारिका प्रस्तुत की गई है—

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।
पुरुषऽस्ति भोक्तृभावत् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥

गोस्वामी तुलसीदास—

(जीव अनेक एक श्रीकंता)

प्रकृति और पुरुष इन दोनों का पंगु अन्ध की तरह संयोग होता है प्रकृति अन्धी अर्थात् अज्ञानमय है, पुरुष पंगु अर्थात् निष्क्रिय है। प्रकृति उपभोग के लिए, पुरुष मोक्ष के लिए परस्पर मिलते हैं। संसार के कार्य के कर्त्ता गुण ही हैं, परन्तु पुरुष उदासीन कर्त्ता की तरह प्रतीत होता है। योग में भी ईश्वर के अतिरिक्त आत्मा के विषय में यही मान्यतायें हैं।

अद्वैत वेदान्त—वेदान्त में आत्मा की स्वयं सिद्धता स्वीकृत है प्रमाणादि सकल व्यवहारों का आश्रय आत्मा ही है। बिना आत्मा के इनका ज्ञान नहीं हो सकता है। सभी आत्मा के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं। 'नाहमस्मि' यह विश्वास किसी को नहीं होता है। याज्ञवल्क्य का कथन है कि जो सबका जानने वाला है, उसे कैसे जाना जा सकता है—

'विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्'

में इसी बात का स्पष्टीकरण है—

"आत्मन: प्रत्याख्यातुम् अशक्यत्वात् । य एव निराकर्त्ता तस्यैव आत्मत्वति । सर्वोहि आत्मास्तित्व प्रत्येति । न नाहमस्मीति" आत्मा (अत् + मनिन् अत: आत्मा की सत्ता स्पष्ट हो जाती है गीता में भी अर्जुन से भगवान कृष्ण ने कहा है—

"अहमात्मा गुडाकेश । सर्वभूता शयस्थित:"

अर्थात् आत्मा सर्वव्यापक एक नित्य पदार्थ है। वह ज्ञान तथा ज्ञाता दोनों ही रूप हैं, जगत् की ज्ञेय रूप से उपस्थिति होने पर आत्मा का ज्ञाता रूप प्रकट हो जाता है और उसके अभाव में आत्मा की ज्ञान रूप के उपस्थिति सर्वदा रहती है। एक ही ज्ञान कर्त्ता और कर्म रूप होने से भिन्न प्रतीत होता पर वास्तव में वह अभिन्न है नेत्र की दृष्टि अनित्य है, आत्मा नित्य है इसी से श्रुति ने आत्मा को द्रष्टा कहा है। लोक में अन्धा स्वप्न में देखता है, बहरा सुनता है। अत: संसार की प्रत्येक वस्तु आत्मा से व्याप्त है जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में वह कभी बाधित नहीं होता है। वह अजर, अमर, शुद्ध, बुद्ध, निर्गुण, चैतन्य, अविकारी तथा निर्लिप्त है। यही आत्मा ब्रह्म है। वह उसका अंश नहीं अपितु पूर्णत: उसी का रूप है। क्योंकि ब्रह्म अखण्ड है। वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा महत् से भी महीयान है। कठोपनिषद् में आत्मा की महत्ता का प्रतिपादन इसी प्रकार किया गया है।

अणोरणीयात् महतो महीयान् आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीत शोको धातुः प्रसादात् महिमानमात्मनः ॥

अपि च:—अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथा रसं नित्यमगन्ध वच्चयत् ॥
अनाद्यनन्त महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥

सम्पूर्ण सृष्टि ही आत्मा है अन्य कुछ नहीं आत्मा और ब्रह्म दोनों एक हैं। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में इसी तत्व को स्पष्ट किया गया है।

"स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं आत्मा तत्वमसि श्वेत् केतो।"

जब आत्मा अविद्या की उपाधि से परिच्छिन्न हो जाता है तो वह जीव कहलाता है। उस समय वह अल्पज्ञ, अनीश्वर, प्राज्ञ तथा व्यष्टि रूप निकृष्ट उपाधि से उपहित चैतन्य स्वरूप होता है। व्यावहारिक दशा में जीव की सत्ता आत्मा से भिन्न है।

पुरुष और आत्मा—सांख्य के मतानुसार पुरुष एक ओर तो प्रकृति से भिन्न पड़ता है, दूसरी ओर व्यक्त पदार्थों से भी (व्यक्ताव्यक्त से परे) वह शरीरादि सभी से स्वतन्त्र है। आत्मा शुद्ध चैतन्य रूप है, जो ज्ञाता के रूप में अवस्थित होता है, ज्ञान के रूप में नहीं वह चैतन्य का आधार रूप द्रव्य नहीं प्रत्युत स्वयं चैतन्य रूप है, सांख्य मत इस विषय में वेदान्त से भिन्न प्रतीत होता है। वेदान्त आत्मा को आनन्दमय सांख्य केवल चैतन्य ही स्वीकार करता है, सुख या आनन्द प्रकृति का गुण है। वह प्रकृति से परे निष्क्रिय तथा उदासीन है। जगत् की उत्पत्ति प्रकृति करती है वह तो साक्षीमात्र है। वह निर्विकारी तथा निर्लिप्त है। पुरुष (आत्मा) की सत्ता स्वयं सिद्ध है। नित्य प्रति के अनुभव से पुरुष या आत्मा स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। शरीर मन इन्द्रियाँ आदि को आत्मा मानना महती त्रुटि है, वह तो एक निरीह तथा अधिकारी सत्ता है। उसमें किसी भाँति का परिणाम प्रादुर्भूत नहीं होता है।

वस्तुतः सांख्य दर्शन की मुक्तावस्था के स्वरूप को लेकर जीव अपने मार्ग का अनुसरण करता है उसके साथ अब नहीं (शुद्ध सत्व) से युक्त पुरुष है। उसी के रहस्य को जानने के लिए आगे बढ़ता है, यही अद्वैत दर्शन की भूमि है और इस वेदान्त भूमि में पुरुष (आत्मा) के शुद्धस्वरूप को अभिव्यक्त करना ही इष्ट है क्योंकि सांख्य भूमि में जड़ प्रकृति (शुद्ध सत्व) का पुरुष पर आरोप होता है।

यथा—विवर्तवादस्य हि पूर्व भूमिः वेदान्तवादे परिणामवादः।
प्रतिष्ठितेऽस्मिम् परिणामवादे, स्वयं सः आभाति विवर्तवादः॥
तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्,
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

अपि च—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

प्रश्न ६—सांख्य एवं वेदान्त के अनुसार बन्ध एवं मोक्ष की तुलना कीजिये।
(आ० ७६, ८२, ८५, ८६, ७०, सै० ८२, का० ८६, ९३, गो० ७८, ८१, ८५, ९२, ९३) (V. Imp.)

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिः यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः ।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यम् पश्यऽसि वरुण च देवम् ॥
सगच्छस्व पितृभिः संयमेन इष्टापूर्तेन परमे व्योमत् ।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥

आशावादी वैदिक युग में मोक्षादि की कल्पना नहीं थी । उस समय सभी प्राणी आनन्दपूर्वक मृत्युलोक में जीवन व्यतीत करते थे तथा मृत्यु के पश्चात् भी यमलोक (स्वर्गलोक) को गमन करते थे जहाँ कि उनके पूर्वज आनन्द का उपभोग कर रहे हैं । उपर्युक्त ऋग्वेद के मंत्रों में यमदेव से इसी की प्रार्थना की गई है । वहाँ जाकर मानव विभिन्न सुख, आनन्दादि का अनुभव करता है यह धारणा उपनिषदों के काल तक रही जैसा तैत्तिरीय उपनिषद् से स्पष्ट है । उसमें अन्न, प्राण, मन, विज्ञान तथा आनन्द ब्रह्म की संज्ञा दी गई है । इनसे ही सब प्राणियों की उत्पत्ति और लय होता है । यहाँ ब्रह्म ज्ञान का उपदेश देते हुए वरुण ने अपने पुत्र भृगु से कहा है—

"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजनात । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानिभूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । सैषोभार्गवी वारुणी विद्या ।"

कहने का तात्पर्य है कि उपनिषदों के काल में भी मोक्ष का स्वरूप यह नहीं था जो बाद के दर्शनों में हुआ । इसका प्रमुख कारण निराशावाद का संचार ही है । इस बन्ध-मोक्ष का विवेचन वेदान्त में प्रमुख रूप से हुआ है । सांख्य-दर्शन के बन्ध-मोक्ष की तथा वेदान्त की तुलना करते हुये दोनों की समीक्षा करते हैं ।

सांख्य दर्शन में द्वैत की भावना है, प्रकृति और पुरुष । इन दोनों का अविवेक ही बन्ध का कारण है और विवेक मोक्ष का कारण है । इस चराचर जगत् का मूल कारण ही प्रकृति है और पुरुष निर्लिप्त तथा निष्क्रिय है । प्रकृति का समग्र क्रिया कलाप ही पुरुष के स्वार्थ (बन्ध एवं मोक्ष) के लिये होता है । विवेक होने के बाद प्रकृति अपने क्रिया कलापों को फिर पुरुष के लिये नहीं करती । उसी समय पुरुष के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है । यद्यपि सुख दुःखादि 'प्रकृति के कार्यभूत बुद्धि के ही धर्म हैं, पुरुष के नहीं, परन्तु पुरुष का प्रतिबिम्ब ही दर्पण के समान बुद्धि में पड़ता है और पुरुष बुद्धि से तादात्म्य कर लेता है । यह अभेद ही अज्ञान है । इस प्रकार बुद्धि के संपर्क से ही पुरुष बुद्धि के राग-द्वेषादि को अपना ही समझने लगता है । तथा नाना योनियों में जन्म-मरण का दुःख भोगता है । यह आवगमन तभी छूटता है जब बुद्धि से अभेद का अभ्यास दूर हो जाता है । यही बन्धन है, यदि पुरुष क्रिया से शून्य है, अतः उसके बन्ध और मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता, ये बन्ध-मोक्ष प्रकृति के ही धर्म हैं । वही स्मरणशील है परन्तु प्रकृतिगत बद्ध मोक्षादि का पुरुष में आरोप हो जाता है । क्योंकि पुरुष अपने को बुद्धि से अभिन्न समझता है, और बद्ध तथा मुक्त कहलाता है । यह तादात्म्याभ्यास अज्ञान के कारण होता है ।

अतः विवेक (तत्व-ज्ञान) के लिये सांख्य शास्त्र में कहे हुए पच्चीस तत्वों को पूर्ण ज्ञान तथा उनका निरन्तर अभ्यास तत्व साक्षात्कार का कारण है। यह ज्ञान संशय, विपर्ययादि से रहित शुद्ध है। इसके बाद पुरुष सर्वथा बन्धन से मुक्त से हो जाता है। उस समय कर्त्ता, भोक्तादि की मिथ्या प्रतीति समाप्त हो जाती है।

इस प्रकार जब पुरुष को तत्व-साक्षात्कार (प्रकृति से पार्थक्य का ज्ञान) हो जाता है, उस समय रजोगुण और तमोगुण की कलुषित वृत्तियों से मुक्त होकर सत्वप्रधान हो जाता है और तटस्थ भाव से प्रकृति के स्वरूप का अवलोकन करता है। उस तत्वज्ञान के बाद उसके सभी संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं, जिससे मर्म रूपी बीजों से नया शरीर तथा उसके लिये उपयोग की सामग्री आदि फल नहीं होते हैं। किन्तु प्रारब्ध के कारण जो विद्यमान शरीर है, उसके पतन के समय तक ज्ञानी पुरुष आसक्ति रहित हो संसार में जीवन व्यतीत करता है। अन्त में प्रारब्ध के नष्ट होने पर शरीर भी नष्ट हो जाता है। यही जीवन-मुक्ति है। इसी भाव को निम्न कारिका में व्यक्त किया है—

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीन मकारणप्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद् धृतशरीर ॥

सांख्य दर्शन की मुक्तावस्था में पुरुष शुद्ध सत्व प्रधान होकर निरपेक्ष दृष्टि से प्रकृति के क्रिया कलापों का आलोकन करता रहता है। सांख्य शास्त्र में विवेक ख्याति ही मुक्ति है। अतः मुक्तावस्था में भी बुद्धि के सत्व प्रधान रूप से उसका सम्बन्ध बना रहता है। यही सत्व-प्रधान पुरुष आगे बढ़ता है तथा वेदान्त-दर्शन में अद्वैतता को प्राप्त होता है।

वेदांत दर्शन—में जीवात्मा तथा ब्रह्म में कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं। किन्तु अज्ञान अथवा माया के कारण दोनों में भेद-प्रतीति होती है। अज्ञान की आवरणशक्ति ज्ञाता की दृष्टि को आच्छादित कर देती है और वास्तविक स्वरूप के दर्शन नहीं होने देती। इतना ही नहीं अपितु विक्षेप शक्ति के द्वारा नाना प्रकार की सृष्टि की उद्भावना आत्मा में होने लगती है। इस प्रकार यह जीवात्मा अज्ञान के कारण इस शरीर को ही आत्मा समझने लगता है तथा सम्पूर्ण चराचर जगत् उसे सत्य प्रतीत होने लगता है इन दोनों शक्तियों के वशीभूत हो राग-द्वेष-काम-क्रोधादि में फंसा हुआ भवसागर में भ्रमण करता रहता है। महाकवि बिहारी के कुरङ्ग के समान उसकी गति हो जाती है—

या माया भव जाल परि कत कुरङ्ग अकुलात।
ज्यों-ज्यों तू सुलझन चहत, त्यों-त्यों उरझत जात ॥

इस प्रकार वह पूर्णतः बद्ध हो जाता है—

अतस्मिस्तद्‌: बुद्धिः प्रभवति विमूढस्य तमसा
विवेका भाव‌द्‌ स्फुरति भुजंगे रज्जुधिषणा

ततोऽनर्थव्रातो निपतति समादादुरधिकः,
ततो योऽसद् ग्राहः स हि भवति बंधः शृणु सखे ।

अतः इस बन्धन से मुक्ति ज्ञान द्वारा ही हो सकती है । उस ज्ञान की प्राप्ति के लिये काम्य और निषद्ध कर्मों को त्यागना पड़ेगा । सांसारिक सुख-दुःखादि से विरक्त हो समाहित चित ब्रह्मज्ञान में संलग्न होना पड़ेगा । तब अध्यारोपापवाद के द्वारा इस जगत् का प्रपञ्च स्पष्ट हो जायेगा तथा 'तत्वमसि' महाकाव्य का अर्थ स्पष्ट हो जायेगा, उस समय जीवात्मा को "अहं ब्रह्मास्मि" का अनुभव होने लगता है । अखण्ड ब्रह्मज्ञान से अज्ञान तथा उसके कार्यों का पूर्ण बोध हो जाता है । समस्त सांसारिक बन्धन नष्ट हो जाते हैं । यह समस्त प्रपञ्च इन्द्रजाल के समान मिथ्या भासित होने लगता है ।-उसके संचित कर्म ज्ञानाग्नि से नष्ट हो जाते हैं । अतः नवीन कर्मफलों की उत्पत्ति नहीं होती । वह उदासीन एवं निर्लिप्त हो जाता है । उसकी सभी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

शंकराचार्य ने इस प्रकार के जीवन्मुक्त का लक्षण निम्न प्रकार से किया है—

मुञ्जादिषीकादिव दृश्यवर्गात्,
प्रत्यञ्चमात्मानमसंगनिष्क्रियम् ।
विविच्य, अविलाप्य सर्वम्,
तदात्मना तिष्ठति यः सः मुक्तः ॥

यद्यपि ज्ञान रूपी अग्नि से सभी संचित कर्म जलकर भस्म हो जाते हैं, किन्तु प्रारब्ध के अनुसार शरीर धारण करना पड़ता है और जब तक उन कर्मों का भाग समाप्त नहीं हो जाता तब तक शरीर का पतन नहीं होता है । अनुभूयमान कर्मों के क्षीण हो जाने पर उसका शरीरपात हो जाता है तथा जिज्ञासु अखण्ड ब्रह्म में तल्लीन हो जाता है । यही जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य है । इस प्रकार, अविद्याकृत बन्धनों का विनाश हो जाता है । यही जीव का बन्ध और मोक्ष है ।

प्रश्न ७—भारतीय दर्शनों के अनुसार ब्रह्म की सत्ता का विश्लेषण करिये ।
आ० ८१, ८६, ८९, ८८, ९१, मे० ८३, कां० ९०, गो० ८०, ८४, ८६, ९३ ।

(V. Imp.)

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

श्वेताश्व: ६–१२

न तत्र सूर्योभाति न चन्द्रतारकं नेमाविद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

श्वेताश्व: ६–१४

उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप—उपनिषदों में ब्रह्म का लक्षण वर्णन करते समय कहीं तो 'सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैति० २–१) या 'विज्ञानमानन्द' (बृ० १, ९, १८) कहा है, अर्थात् ब्रह्म सत्य है (सत्) ज्ञान (चित्त) और आनन्दरूप है, अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप है—इस प्रकार सब गुणों का तीन ही गुणों में समावेश करके वर्णन किया है। अन्य स्थानों में भगवद्गीता के समान ही, परस्पर विरुद्ध गुणों को एकत्र करके ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया गया कि 'ब्रह्म सत् भी नहीं और असत् भी नहीं' (ऋ० १०, १, २९, १) अथवा 'अणोरणीयान्महतो महीयान' अर्थात् अणु से भी छोटा और बड़े से भी बड़ा है (कठ० २, २०) तदेजति, तन्नैजति तन् दूरे तद्वति 'के' अर्थात् वह हिलता है और हिलता भी नहीं, वह दूर है और समीप भी है (ईश० ५, मु० ३, १, ६) अथवा 'सर्वेन्द्रियगुणाभासः' होकर भी 'सर्वेन्द्रियविवर्जित' है (श्वेता० ३, १७)। मृत्यु ने नचिकेता को यह उपदेश किया है कि अन्त में उपर्युक्त सब लक्षणों को छोड़ दो और जो धर्म और अधर्म के, कृत और अकृत के अथवा भूत और भव्य के भी परे है, उसे ही ब्रह्म जानो (कठ० २, १४)। बृहदारण्यकोपनिषद में भी पृथ्वी, जल और अग्नि—तीनों को ब्रह्म का मूर्त-रूप कहा है; फिर वायु तथा आकाश को अमूर्तरूप कहकर दिखाया है कि इन अमूर्तों के सारभूत पुरुषों के रूप या रंग बदल जाते हैं और अन्त में यह उपदेश किया है कि 'नेति', 'नेति' अर्थात् अब तक जो कहा गया है, वह नहीं है, वह ब्रह्म नहीं है—इन सब नाम-रूपात्मक मूर्त या अमूर्त पदार्थों के परे जो 'अगृह्य' या 'अवर्णनीय' है उसे ही परब्रह्म समझो (बृह० २, ३, ६) अधिक क्या कहें; जिन-जिन पदार्थों को कुछ नाम दिया जा सकता है, उन सब से जो परे है, वही ब्रह्म है और उस ब्रह्म का अव्यक्त तथा निर्गुण स्वरूप दिखाने के लिए 'नेति' 'नेति' एक छोटा-सा निर्देश, आदेश या सूत्र ही हो गया है, और बृहदारण्यक उपनिषद् में ही उसका चार बार प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार दूसरे उपनिषदों में भी परब्रह्म के निर्गुण और अचिन्त्य रूप का वर्णन पाया जाता है, जैसे "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तैत्ति० २·९) "न चक्षुसा गृह्यते नाऽपि वाचा (मु० ३, १, ८), अथवा—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुव निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥

अर्थात् वह परब्रह्म पंचमहाभूतों के शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध इन पाँच गुणों से रहित, अनादि, अनन्त और अव्यय है। (कठ० ३, १५)। हमारे प्राचीन ऋषियों ने निर्णय कर दिया था कि 'नेह नाना ऽस्ति किंचन' (बृ० ४, ४, १९, कठ० ४, ११) सृष्टि में देख पड़ने वाली अनेकता सच नहीं है, उसके मूल में चारों ओर एक ही अमृत, अव्यय और नित्य तत्त्व है (गी० १८, २०) और फिर उन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टि से यह सिद्धान्त ढूंढ निकाला कि बाह्य सृष्टि के नाम-रूप से आच्छादित अविनाशी तत्त्व और अपने शरीर का वह आत्मतत्त्व कि जो बुद्धि से परे है—य

दोनों एक ही, अमर और अव्यय हैं, अथवा जो तत्त्व ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में यानी मनुष्य की देह में वास करता है, एवं बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को, गार्गी वारुणि प्रभृति को और जनक को (बृ० ३, ५-८, ४, २-४) पूरे वेदान्त का यही रहस्य बतलाया है। इसी उपनिषद् में पहले कहा गया है कि जिसने जान लिया 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ही पर परब्रह्म हूँ, उसने सब कुछ जान लिया। छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में श्वेतकेतु को उसके पिता ने अद्वैत वेदान्त का यही तत्त्व अनेक रीतियों से समझा दिया है तथा अनेक दृष्टान्त देकर समझाया कि बाह्य सृष्टि के मूल में जो द्रव्य हैं वह (तद्) और तू (त्वम्) अर्थात् तेरी देह की आत्मा दोनों एक ही हैं—"तत्त्वमसि" एवं ज्यों ही तूने आत्मा को पहचाना त्यों ही तुझे ही मालूम हो जावेगा कि समस्त जगत् के मूल में क्या है ? केनोपनिषद् में निरुपाधि, निष्प्रपञ्च ब्रह्म का स्वरूप दृष्टव्य हैं—

यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

चार्वाक दर्शन में ब्रह्म की सत्ता—भौतिकवादी दर्शन को चार्वाक दर्शन कहा जाता है। चार्वाक का शब्दार्थ है, खाने-पीने के भोग को ही सब कुछ समझने वाला। इस जड़वादी दर्शन को बृहस्पति ने सूत्र रूप में लिखा था। प्राचीन चार्वाक सिद्धान्त जड़वाद के सिद्धान्त थे। ईश्वर नहीं, आत्मा नहीं, पुनर्जन्म और परलोक नहीं। जीवन के भोग त्याज्य नहीं ग्राह्य हैं। अनुभव और बुद्धि को हमें सत्य के अन्वेषण के लिये मार्गदर्शक बनाना चाहिये। इन्होंने जीव को भौतिक उपज मात्र माना है। पृथ्वी, जल, हवा, आग यह चार भूत हैं। इन चार भूतों से चैतन्य उत्पन्न होता है। अतः इनके यहाँ ब्रह्म नाम का कोई तत्त्व नहीं है। चार्वाक ईश्वर के अस्तित्व को शब्द प्रमाण से स्वीकार नहीं करते। वे व्यावहारिता को ही महत्व देते हैं। स्वभाव से ही जगत् की सृष्टि वैचित्र्यपूर्ण है तथा स्वभाव से ही प्रलय हो जाती है। अतः इनको जगत् के कर्ता ईश्वर या ब्रह्म के अस्तित्व की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रत्यक्ष प्रमाण को मानने के कारण इस लोक की सत्ता को ही स्वीकार किया है।

बौद्ध दर्शन में ब्रह्म का स्वरूप—बुद्ध आत्मवाद के कठोर विरोधी थे, साथ ही वे भौतिकवाद के भी विपरीत थे। बुद्ध के दर्शन का जो रूप अनित्य, अनात्म, प्रतीत्य-समुत्पाद है, उसमें ईश्वर या ब्रह्म की भी उसी तरह कल्पना नहीं है, जैसे कि आत्मा की। यह सच है कि बुद्ध ने ईश्वरवाद पर उतने ही अधिक व्याख्यान दिये हैं, जितने कि अनात्मवाद पर। ईश्वर का उससे विश्व के स्रष्टा, भर्त्ता, हर्त्ता एक नित्यचेतन व्यक्ति का अर्थ लिया जाता है। बुद्ध के प्रतीत्य-समुत्पाद में ऐसे ईश्वर की कल्पना तभी हो सकती है जबकि सारे 'धर्मों' की भाँति वह भी प्रतीत्य-समुत्पन्न हो। प्रतीत्य-समुत्पन्न होने पर वह ईश्वर ही नहीं रहेगा। बुद्ध के दर्शन में कहीं भी ईश्वर, आत्मा, ब्रह्म किसी भी नित्य ध्रुव पदार्थ की सत्ता नहीं है, क्योंकि

वहाँ सब कुछ अनित्य है। बुद्ध के दर्शन का नाम ही अनात्मवाद है। उनके यहाँ आत्मा इस शरीर तथा मन, भौतिक तथा मानसिक प्रवृत्तियों का एक समुच्चय मात्र है, जो व्यवहार के लिये है। वस्तुत: उसकी कोई सत्ता नहीं है। इनके दर्शन में नि:स्वभाव, अनिर्वचनीय, अलक्षण आदि शब्दों के द्वारा निरूपित शून्य ही परम तत्त्व है। इस स्थान को अधिगम्य करना ही साधना की कसौटी है।

जैनदर्शन में ब्रह्म की सत्ता—उपनिषद् के दर्शन में नित्यता पर जोर दिया गया था। बौद्धों का जोर अनित्यता पर था। जैनों ने दोनों को सम्भव बतलाते हुए बीच का रास्ता स्वीकार किया और स्यादवाद का प्रसार किया। इन्होंने जीव को ही आत्मा कहा है। आत्मा नित्य है जो ज्ञान से जाना जा सकता है, यथा—

"ज्ञानाद् भिन्नो न चाभिन्नो भिन्नाभिन्न: कथंचन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तित:॥

आत्मा भौतिक नहीं है, शरीर उसका अधिकरण है, जीवों की संख्या असंख्य है। जीव न सर्वव्यापी है, न वैशेषिक। मन की भांति अणु है, बल्कि वह मध्यम परिमाणी है, अर्थात् जितना, बड़ा शरीर है, उतना बड़ा ही आत्मा है। किन्तु वे ब्रह्म या ईश्वर के न मानने में चार्वाक और बौद्ध दर्शनों के साथ हैं। इनकी युक्तियाँ भी प्राय: वही हैं, जिन्हें वे दोनों दर्शन देते हैं। वैशेषिक ने लोक की सृष्टि के लिये अदृष्ट को ईश्वर के स्थान पर रखा है, और जैनों ने धर्म-अधर्म को उसके स्थान पर रखा। लोक, ऊर्ध्व, मध्य और अध: तीनों लोकों में विभक्त है, जिनमें क्रमश: देव, मानव और नारकीय लोग बसते हैं। लोक में सर्वत्र आकाश है, जिसे लोकाकाश कहते हैं। लोकाकाश के परे तीन तह हवा की हैं। मुक्त जीव तीनों लोकों को पार कर लोकाकाश में रहते हैं। लोकाकाश के परे तीन तह हवा की हैं। मुक्त जीव तीनों लोकों को पार कर लोकाकाश के ऊपर जाकर वास करता है। इस प्रकार ब्रह्म या ईश्वर की कल्पना जैन दर्शन में नहीं है। फिर भी उनके मत में अर्हत नामक एक नित्य सिद्ध पुरुष है। ईश्वर के बिना ही कर्म की स्वतन्त्रता फल देने वाली है। कम फल का दाता ईश्वर के बिना ही कर्म की स्वतन्त्रता फल देने वाली है। कर्म फल का दाता ईश्वर नाम का कोई पदार्थ नहीं है। उनके यहाँ अर्हत ही ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित है, जो देवत्व से युक्त है तथा आर्त प्राणियों का रक्षक है।

मीमांसा दर्शन में ईश्वर का अस्तित्व—मीमांसा के अनुसार बाह्य विश्व सब है और वह जैस दिखलाई पड़ता है, वैसा ही है। आत्मा अनेक हैं। स्वर्ग को भी वह मानता है। किन्तु उसके भोगों की विश्व के भोगों से इस बात में समानता है कि दोनों भौतिक हैं। ब्रह्म या ईश्वर के लिये मीमांसा में स्थान नहीं है। जैमिनि को वेद की स्वत: प्रमाणता सिद्ध कर यज्ञ कर्मकाण्ड का रास्ता साफ करना था। उसने ईश्वर-सिद्धि में पड़ने से वेद को नित्य, अनादि सिद्ध करना आसान समझा,

और इतिहास के सम्बन्ध में उस समय जितना अज्ञान था, उससे यह बात आसान थी। यथा—

विजम्मना जैमिनिना पूर्ववेदमथार्थतः।
निरीश्वरेण वादेन कृतं शास्त्र महत्तरम्।"

यद्यपि उनको 'ईश्वर' या परमात्मा' से विशेष कोई प्रयोजन नहीं है, तथापि ये 'नास्तिक' नहीं कहलाते, क्योंकि 'ईश्वर' के अस्तित्व का खंडन तो इन्होंने नहीं किया। इनके अनुसार कोई सृष्टिकर्त्ता ईश्वर नहीं, कोई सर्वज्ञ नहीं, कोई मुक्त पुरुष नहीं, विश्व के अन्दर कोई रहस्यवाद नहीं, यह उससे अधिक कुछ नहीं जैसा कि हमारी (स्थूल) इन्द्रियों को दिखलायी पड़ता है। यज्ञानुष्ठान के कर्मों के अनुसार ही तत्तत् फलों की प्राप्ति होती है, ईश्वर के कारण नहीं। किन्तु बाद में मीमांसकों ने ईश्वर को माना है और उसे यज्ञपति कहा है। प्रभाकर ने भी ईश्वर की सिद्धि में श्रुति वाक्यों को तो प्रमाण माना है, किन्तु अनुमान सिद्ध ईश्वर को स्वीकार नहीं किया।

वैशेषिक दर्शन में ईश्वर या ब्रह्म—इन्द्रियों और विषयों के सम्पर्क से हमें जो ज्ञान होता है, उसका आधार इन्द्रिय या विषय नहीं हो सकते, क्योंकि वे दोनों ही भौतिक—जड़ हैं। ज्ञान का अधिकरण (= कोश) आत्मा है। जीवितावस्था में शरीर में गति और मृतावस्था में गति का बन्द होना भी बतलाया है कि गति देने वाला कोई पदार्थ है, वही आत्मा है। श्वास-प्रश्वास, आँख का निमेष-उमेष, मन की गति, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न शरीर के रहते भी जिनके अभाव में नहीं होते वही आत्मा है। सब का सुख, दुःख ज्ञान अलग-अलग होता है, जिससे सिद्ध होता है कि आत्मा एक नहीं अनेक हैं परन्तु ब्रह्म या ईश्वर के लिये कणाद के दर्शन में स्थान नहीं। उनके नौ द्रव्यों में आत्मा आया है, किन्तु वे हैं इन्द्रियों और कनों की सहायता से ज्ञान प्राप्त करने वाले अनेक जीव। उन्हें कर्मफल आदि अदृष्ट देता है। यह फल देने वाला अदृष्ट सुकृत-दुष्कृत की वासना या संस्कार हैं, इसे ईश्वर नहीं कहा जा सकता। सृष्टि रचना के लिए होने वाली यह परमाणु-गति भी कणाद के अनुसार अदृष्ट के अनुसार होती है, इस प्रकार अदृष्टवादी कणाद को सृष्टि, कर्मफल कहीं भी ईश्वर की आवश्यकता नहीं हुई। उनके यहाँ परमाणुओं में अदृष्ट के द्वारा ही स्पन्दन होता है। बाद के आचार्यों ने अदृष्ट के स्थान पर महेश्वर की सत्ता को स्वीकार कर लिया है। इसकी इच्छा से परमाणु नियन्त्रित होते हैं।

न्याय-दर्शन में ईश्वर अथवा ब्रह्म—न्याय-दर्शन में आत्मा का प्रतिपादन किया गया है। वह आत्मा देह, इन्द्रिय आदि से पृथक् है। प्रत्येक शरीर में अलग-अलग नित्य और विभु (व्यापक) हैं और वह मानस प्रत्यक्ष का विषय है। अपना आत्मा मानस प्रत्यक्ष का विषय है। दूसरे में आत्मा है या नहीं, इस प्रकार का मतभेद अथवा संदेह होने पर बुद्धि आदि गुण लिंगक हैं। अर्थात् बुद्धि आदि गुण

रूप लिंग से अनुमान द्वारा सिद्ध होने वाला है यद्यपि अक्षपाद ने ईश्वर या ब्रह्म को अपने ११ प्रमेयों में नहीं गिना है और न उन्होंने कहीं स्पष्ट कहा है कि ईश्वर को भी वह आत्मा के अन्तर्गत मानते हैं। आत्मा से उनका मतलब जीव से है, अपने सारे दर्शन में अक्षपाद का ईश्वर पर कोई जोर नहीं है, परन्तु बाद के आचार्यों ने तो ईश्वर के अस्तित्व का पूर्ण समाधान किया है। क्योंकि ईश्वर, जीव तथा प्रकृति इन तीनों तत्वों की नित्य सत्ता सिद्ध होती है। न्याय शास्त्र भी इन तीनों की नित्य सत्ता मानता है, ईश्वर नित्य है और वह जगत् का निमित्त कारण है, प्रकृति भी नित्य है और जगत् का उपादान कारण है। जीवात्मा भी नित्य है, उसी के भोगापवर्ग सम्पादन के लिए ईश्वर, प्रकृति रूप उपादान कारण से घटादि के समान सृष्टि का निर्माण करता है। 'क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्' इत्यादि रूप में ईश्वर सिद्धि के लिए जिन अनुमानों का प्रयोग नैयायिक आदि करते हैं, उनका यही अभिप्राय है। यथा:—

ईश्वरीऽय निराकार: सर्वज्ञ: सर्वशक्तिमान्।
अनादिरविकारी चानन्त: सर्वगतो विभु॥
सच्चिदानन्दरूपोऽपि, दयालुर्न्यायतत्पर:।
सर्गे स्थितौ लये हेतु: नित्यतृप्तो निराशय:॥
परमात्मा जगत् सृष्टा, सर्वज्ञ: सर्वशक्तिमान्।
सच्चिदानन्दरूपश्च, ह्येको नित्यो विभुस्तथा।

सांख्यदर्शन में ईश्वर या ब्रह्म की सत्ता—कपिल उपनिषद् के दर्शन की भांति ब्रह्म या आत्मा को ही सर्वेसर्वा नहीं मानते थे। वह आत्मा से इंकार नहीं करते थे। बल्कि उन्होंने उसके लिये उपनिषद के अकर्त्ता, अभोक्ता, अज, नित्य आदि विशेषणों को भी स्वीकार कर लिया है। नित्य होने का मतलब है, निष्क्रियता, इसी लिए कपिल ने आत्मा के निष्क्रिय होने पर बहुत जोर दिया। निष्क्रिय होने पर आत्मा को विश्व की सृष्टि से क्या मतलब, दूसरे जीवों से ही क्या प्रयोजन ? ऐसी हालत में सृष्टिकर्त्ता या अन्तर्यामी ब्रह्म को जरूरत न थी, इसलिए कपिल ने अपने दर्शन में परमात्मा या ब्रह्म को स्थान नहीं दिया, असंख्य जीवों या पुरुषों को उन्होंने प्रकृति के साथ एक स्वतन्त्र तत्व माना। यहाँ पुरुष (आत्मा या ज्ञ) है। यह तीन प्रकार का है—(१) 'बद्ध,' (२) 'मुक्त' (३) 'ज्ञ' चेतन पुरुष के अतिरिक्त जड़ प्रकृति कपिल के मत में मुख्य तत्त्व है, इसलिए प्रकृति का दूसरा नाम प्रधान है। प्रकृति नित्य है, जगत् की सारी वस्तुएं उसी के विकार हैं पुरुष की समीपता मात्र से और उसके ही लिये प्रकृति में क्रिया उत्पन्न होती है। जिससे विश्व की वस्तुओं का उत्पादन और विनाश होता है। यथा—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वी: प्रजा सृजमाना सरूपा:।
अजो हि एको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य।

अत: निष्प्रयोजन ईश्वर या ब्रह्म की यहाँ सत्ता स्वीकार नहीं की गई है।

अतः निरीश्वरवादी सांख्य है। तो भी यह चार्वाकादि की तरह नास्तिक दर्शन नहीं है। बाद के सांख्याचार्यों ने ईश्वर के अस्तित्व को किसी न किसी रूप में माना है। वास्तव में प्रकृति को ही मूल मानकर ईश्वर की उन्हें आवश्यकता नहीं हुई है।

योगदर्शन में ईश्वर का अस्तित्व—पतंजलि के योगशास्त्र को सेश्वर (=ईश्वरवादी) सांख्य भी कहते हैं, क्योंकि जहाँ कपिल के सांख्य में ईश्वर की कल्पना नहीं है, वहाँ पतजलि ने अपने दर्शन में उसके लिये स्थान दिया। किन्तु पतंजलि ने उपनिषदकारों की भांति सृष्टिकर्त्ता नहीं बनाना चाहा और न अक्षपाद की भाँति कर्मफल दिखाने वाला ही। चित्तवृत्तियों के निरोध करने के अभ्यास और वैराग्य दो मुख्य उपाय बतलाये हैं। उसी में ईश्वर की भक्ति को व्यक्त किया है। ईश्वर-भक्ति से समाधि की सिद्धि होती है, यह भी आगे कहा है। पतजलि के अनुसार ईश्वर एक विशेष तरह का पुरुष है, जो कि (अविद्या, राग, द्वेष आदि) मानो (धर्म, अधर्म रूपी) कर्मों (कर्म के) विपाकों (फलों) तथा संस्कारों से निर्लेप है 'ईश्वर' या उसके वाचक 'प्रणव' के जप से तथा उसके अर्थ की भावना करने से चित्त 'एकाग्रता' को प्राप्त करता है। पतंजलि ने योगसूत्र में 'ईश्वर' का स्वरूप व्यक्त किया है—

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः।"

वह सर्वज्ञ बीज है। वह पहले वाले (गुरुओं=ऋषियों) का भी गुरु है क्योंकि जब वह न हो, ऐसा माल नहीं है। वस्तुतः ईश्वर कैवल्य प्राप्त दूसरे मुक्तों जैसा ही एक पुरुष है, अन्तर इतना है कि, जहाँ मुक्त पुरुष पहले बद्ध रहकर अपने प्रयत्न से मुक्त हुए हैं, वहाँ ईश्वर सदा से (=नित्य) मुक्त है उसका प्रयोजन यही है कि उसकी भक्ति या प्रणिधान से चित्तवृत्तियों का निरोध होता है। वह ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति आदि गुणों से युक्त है तथा उसमें सर्वभावाधिष्ठातृत्व है। समाहितचित्त होकर 'ईश्वर' के चिन्तन से सात्विकी बुद्धि निर्मल हो जाती है। योगी के मन में इच्छा के अनभिघात-रूप ऐश्वर्य का क्रमिक संचार होता है। इसमें भी बहुत विघ्न होते हैं। उन विघ्नों का नाश 'ईश्वर' के ध्यान से होता है। ईश्वर की सिद्धि में श्रुतियाँ एवं शास्त्र-प्रमाण हैं। ज्ञान का भण्डार ईश्वर ही है। प्रकृति के पुरुष के संयोजक तथा वियोजक रूप से ईश्वर की सत्ता प्रकट होती है। ईश्वर ही प्रत्येक पुरुष के कर्मों तथा भाग्य का जानने वाला है। वह जीवों की सृष्टि के लिये प्रकृति को प्रेरित करता है। योगदर्शन में साधना तथा सिद्धान्त इन दोनों ही दृष्टियों से ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है।

वेदान्त दर्शन में ब्रह्म का स्वरूप—अनादि काल से चली आती अविद्या (=अज्ञान) के कारण यह नाना प्रकार का भेद प्रतीत होता है, जिससे ही यह जन्म, जरा, मरण आदि सांसारिक दुःख होते हैं। इन सारे दुःखों की जड़ काटने के लिये केवल 'एक आत्मा ही सत् है' यह ज्ञान जरूरी है। इसी आत्मा की एकता या ब्रह्म-अद्वैत के ज्ञान के प्रतिपादन को ही शंकर अपने ग्रन्थ का प्रयोजन बतलाते हैं। वह ब्रह्म

सत् (=अस्तित्व) मात्र, चित् (=चेतना) और आनन्दस्वरूप है। ब्रह्म से जगत् भिन्न नहीं है, वह जगत् के नाना रूपों में दिखाई पड़ता है। ब्रह्म जीव भर ही नहीं उससे अधिक भी है, यह भेद करके बताया गया है—'जो आत्मा में रहते भी आत्मा से भिन्न है, जिसे आत्मा नहीं जानता, जिसका कि आत्मा शरीर है।" वस्तुतः जीव, जगत्, ईश्वरादि ब्रह्म की उपाधियाँ हैं। इससे भिन्न प्रतीत होती है, वास्तव में हैं नहीं।

'ब्रह्म' निर्विशेष तत्व है। वह सर्वव्यापी और चेतन है। वह स्वयं सिद्धि है, स्वप्रकाश है, किन्तु अनादि अज्ञान से जीव इसे नहीं देखता है। इस भ्रांति को दूर करना वेदान्तशास्त्र का प्रयोजन है। यही ब्रह्म सृष्टि का उपादान और निमित्तकारण है। जीव और ब्रह्म एक हो जाने से तथा उस जीव के लिए माया के विलीन हो जाने से, 'एकमेवाद्वितीयं नेह नानाऽस्ति किंचन' यह श्रुतिवाक्य प्रमाणित हो जाता है तथा जीव आनन्दमय हो जाता है। न्यायवैशेषिक में 'सत्' रूप की, सांख्य योग में 'चित्' रूप की तथा वेदान्त में 'आनन्द' रूप की अभिव्यक्ति होती है। मुक्तावस्था में सभी उपाधियों से रहित होकर 'जीव' ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है। जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं रहता। आनन्द तो है, किन्तु आनन्द का अनुभव करने वाला कोई नहीं है, इसीलिए कहा गया है कि ब्रह्म 'अवाङ्मनसमोचर'।

प्रश्न ८—विभिन्न दर्शनों के अनुसार प्रमाणों की संख्या का विवेचन कीजिये।

(आ० ८५, ८६, ८६, ८६, मे० ८०, का० ८८, ९१, बना० ८४, ८५, ८६, ९०)।

(V. Imp.)

भारतीय दर्शनों में प्रमाणों का अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इन्हीं के द्वारा प्रमा की सिद्धि की गई है। यथा 'प्रमा करणम्' प्रमाण। इन्हीं प्रमाणों के द्वारा प्रमेय की भी सिद्धि की जाती है। नव्य न्याय में तो प्रमाणों को ही अधिक महत्व दिया गया है। जितना बुद्धि का सदुपयोग प्रमाणों के आलोडन-विलोडन में हुआ है उतना प्रमेयों की सिद्धि में नहीं। इस प्रकार प्रमेय (आत्म) प्रधान न्यायशास्त्र को प्रमाण-प्रधान शास्त्र का स्थान मिला। सभी दर्शनों में प्रमाणों की संख्या एक-सी नहीं है। कहीं-कहीं पर उनके स्वरूपों के विवेचन में भी यत्किञ्चित् भिन्नता आ गई है। एक ही प्रमाण को विविध ढंगों से प्रतिपादित किया गया है। 'दर्शन मीमांसा' में विभिन्न दर्शनों के अनुसार प्रमाणों की संख्या निम्न प्रकार मानी गई है—

प्रत्यक्षमात्रं चार्वाकाः बौद्धा वैशेषिका द्वयम्।
सांख्या योगास्त्रयं चैव न्याये चैव चतुष्टयम्॥
पञ्च प्राभाकरा आहुस्तथा वेदान्तिनश्चषट्।
पौराणिकास्तथा चाष्टौ प्रमाणान्यत्र मन्वते॥

इन सभी का संक्षिप्त परिचय देकर विस्तृत रूप में वर्णन करेंगे।

१. चार्वाक दर्शन—प्रत्यक्ष।

२. बौद्ध—प्रत्यक्ष, अनुमान।

३. जैन—प्रत्यक्ष, परोक्ष, (अनुमान शब्द) ।

४. वैशेषिक—प्रत्यक्ष, अनुमान ।

५. सांख्य—सप्रत्यक्ष अनुमान, शब्द ।

६. योग—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द ।

७. न्याय—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान ।

८. मीमांसा—(प्रभाकरमत)—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति ।

९. मीमांसा—(कुमारिल भट्ट)—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि (अभाव) ।

१०. वेदान्त—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, (अभाव) ।

११. पुराण—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, ऐतिह्य, सम्भव ।

चार्वाक दर्शन—इस दर्शन का दृष्टिकोण स्थूल है। इसमें भौतिक शरीर तथा इस लोक को ही परम लक्ष्य माना है। इनके यहाँ केवल चार प्रमेय ही स्वीकार किए गए हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु इनका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा हो जाता है। इनके अनुसार जिन पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता उनके स्थूल को मानने के लिए तैयार नहीं है। मन और आकाश की स्थिति बुद्धि के प्रत्यक्ष से स्वीकार करते हैं। इनके यहाँ चाक्षुष-प्रत्यक्ष को ही प्रमुखता दी गई। बाद में अन्य इन्द्रियों के प्रत्यक्ष को भी स्थान देकर ज्ञानेन्द्रियों के नामानुसार पाँच भेद प्रत्यक्ष के मान लिए गए।

केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार करने के कारण अन्य दार्शनिकों ने इनकी आलोचना की। उनका कथन है कि चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं तो क्या वे इष्ट जनों के घर से किसी कारणवश बाहर जाने पर उनका अभाव या विनाश मानेंगे क्योंकि उनका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है। किन्तु चार्वाक अनुमानादि प्रमाणों को भी प्रत्यक्ष का ही निमित्त भेद मानते हैं, जो उसकी व्यापक व्याख्या के अन्तर्गत आ जाते हैं।

बौद्ध दर्शन—में दो प्रमाणों को ही स्वीकार किया है। प्रत्यक्ष और अनुमान। इन्हीं दो के द्वारा ज्ञान की उपलब्धि होती है। इन्द्रिय, मन और विषय का संयोग होने पर जो सम्यक् ज्ञान होता है तथा जो अज्ञान अर्थ का प्रकाशक है उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। यह कल्पना से रहित होता है क्योंकि प्रतिपक्ष होता है। इसके चार भेद होते हैं--

(१) इन्द्रिय प्रत्यक्ष, (२) मानस प्रत्यक्ष, (३) स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष, (४) योगी प्रत्यक्ष।

(२) **अनुमान प्रमाण**—प्राय: पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान से ही होता है जैसे अग्नि का ज्ञान प्रत्यक्ष तो होता है साथ ही धूम के दर्शन से, रसोईघर की स्मृति के रूप का सादृश ज्ञान हो जाता है और धूमलिङ्ग (चिह्न) वाली अग्नि का ज्ञान हो जाता है। इसी को अनुमान कहते हैं। इस प्रकार कह सकते हैं कि अटूट

सम्बन्ध वाले दो पदार्थों में से एक का दर्शन उस सम्बन्ध के जानकार के लिए अनुमान होता है। 'अनन्तरीयकार्य-दर्शन तद्विदोऽनुमानम्' यथा पर्वत में धूम को देखकर रसोईघर की याद आ जाती है तथा जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है और इस प्रकार उस परोक्ष अग्नि का ज्ञान धूम से होता है। इसके दो भेद होते हैं—(१) स्वार्थ अनुमान, (२) परार्थ अनुमान।

परार्थ—अनुमान की सिद्धि के लिए कार्य, स्वभाव तथा अनुपलब्धि के रूप में तीन हेतु होते हैं। स्वार्थ अनुमान में लिङ्ग समक्ष और विपक्ष हेतु होते हैं। ज्ञान को स्वार्थ अनुमान तथा कथन को परार्थ अनुमान कहते हैं।

जैन दर्शन—में प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्ष प्रमाण के भेद से दो ही स्वीकार किए गए हैं। किन्तु कुछ आचार्यों ने चार (अनुमान, प्रत्यक्ष, औपम्य, आगम) का भी उल्लेख किया है। यहाँ दो का ही उल्लेख करते हैं, क्योंकि शेष प्रमाणों का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है।

प्रत्यक्ष—जिस यथार्थ ज्ञान को बिना किसी सहायता के स्वयं प्राप्त किया जाता है, उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं। कर्म के प्रभाव से रहित स्वतन्त्र रूप से अभिव्यक्ति करने वाले को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। किन्तु जहाँ किसी के वास्तविक ज्ञान के लिए इन्द्रियों का आश्रय लेना पड़े वह व्यावहारिक प्रत्यक्ष है। मन को जैन-दर्शन में इन्द्रिय नहीं माना है। बाद के आचार्यों ने मति और श्रुत को भी प्रत्यक्ष प्रमाण का भेद स्वीकार किया है। पारमार्थिक तथा व्यावहारिक के भी कई प्रकार हैं।

परोक्ष प्रमाण—जहाँ किसी हेतु के द्वारा साध्य पदार्थ का ज्ञान होता है उसे परोक्ष कहते हैं। इसकी सिद्धि के लिए जो प्रक्रिया होती है उसे अनुमान कहा गया है। अतः यह अनुमान प्रमाण ही है। स्वार्थ और परार्थ भेद से यह दो तरह का होता है। अनुमान में व्याप्ति और पक्षधर्मता दोनों ही वांछनीय हैं। पञ्चावयव द्वारा परार्थ अनुमान की सिद्धि होती है।

(१) **प्रतिज्ञा**—पर्वत में अग्नि।
(२) **हेतु**—वह धूम वाला।
(३) **दृष्टान्त**—जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होता है। यथा महानसादि।
(४) **उपनय**—धूम बिना वह्नि के नहीं रहता, वही धूम पर्वत में है।
(५) **निगमन**—पर्वत आग वाला।

अनुमान को सिद्धि में दोष आने पर हेत्वाभास होता है। असिद्ध विरुद्ध तथा अनैकान्तिक भेद से तीन प्रकार का होता है।

शब्द प्रमाण भी परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत आ जाता है। लौकिक और शास्त्रज्ञ की दृष्टि से इसके भी दो भेद होते हैं।

इन्हीं प्रमाणों के द्वारा जैन-दर्शन में प्रमेयों की सिद्धि (पदार्थ-ज्ञान) हो जाती है।

वैशेषिक दर्शन – में प्रमाणों का शृंखलाबद्ध विवेचन नहीं हुआ है। फिर भी कणाद ने दो प्रमाणों का वर्णन अपने सूत्रों में किया है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान। कहीं-कहीं कुछ बातों के लिए शब्द प्रमाण को भी अङ्गीकार किया है।

प्रत्यक्ष—इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहते है। यथा पृथिवी और घ्राण का संयोग गंध गुण को प्रत्यक्ष करने वाला है।

अनुमान—वस्तु का अनुमान ख्याति के आश्रय पर निर्भर है। यह तीन प्रकार से होता है। (१) विद्यमानता अर्थात् एक की अनुपलब्धि का अनुमान अन्य की उपलब्धि से। यथा सींगों के उपस्थित होने से अनुमान होता है कि कुत्ता नहीं है। (२) एक के भाव का अनुमान दूसरे के अभाव से अर्थात् अविद्यमानता। यथा सींग के अभाव से अनुमान होता है कि यह कुत्ता है। (३) एक की प्राप्ति से दूसरे की प्राप्ति का अनुमान। यथा सींग के उपस्थित होने से अनुमान होता है कि यह बैल है। अनुमान के लिए हेतु परमावश्यक है। यथा धूम की सिद्धि के लिए अग्नि आवश्यक है, क्योंकि बिना अग्नि के धूम नहीं हो सकता है। किन्तु धूम के अभाव में अग्नि का अभाव नहीं होता।

सांख्य-दर्शन में तीन प्रमाणों को ही स्वीकार किया गया है।

प्रत्यक्ष, अनुमान (याप्तिज्ञान, आप्तवाक्य (शब्द), (उपमान), अभावादि प्राणों को इन्हीं में अन्तर्भूत कर लिया गया है।

प्रत्यक्ष—जब घट-पटादि का इन्द्रियों के साथ संयोगादि सम्बन्ध होता है और जिससे बुद्धि को निश्चयात्मक ज्ञान होता है उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं। यह अध्यवास यात्मिका वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमा का कारण होती है। प्रत्यक्ष प्रमा के कारण को ही प्रमाण (प्रत्यक्ष) कहते हैं।

अनुमान—अनुमति रूप प्रमा ज्ञान का कारण परामर्श ही 'अनुमान' कहलाता है। यथा "वाह्नव्याप्य धूमवानय पर्वत:" यह परामर्श का स्वरूप है। इस परामर्श को अनुमान कहा जाता है। यह तीन प्रकार का होता है—

पूर्ववत्—धूम वाला होने से आग वाला है।

शेषवत्—नदी के परिवर्तित रूप से (फेनादि से) वृष्टि का अनुमान होना।

सामान्यतोदृष्ट—सूर्य को सुबह पूर्व में निकलता हुआ, सायकाल को पश्चिम में छिपता हुआ देखकर उसकी गति का अनुमान लगाना।

आप्तवाक्य—शास्त्रादि तथा सिद्ध पुरुषों (कपिलादि) के वचन ही पर्याप्त प्रमाण हैं।

योग दर्शन—जिस प्रकार सांख्य में तीन प्रमाण होते हैं, उसी प्रकार योग में में भी तीन ही ग्रहण किए हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) शब्द।

प्रत्यक्ष प्रमाण—इन्द्रिय रूपी नालियों के द्वारा चित्त-वृत्ति बाह्य पदार्थों के साथ तदाकारकारित हो जाती है अर्थात् उन पदार्थों का साक्षात्कार हो जाता है।

यथा "मैं घट को जानता हूँ।" यही ज्ञान चित्त को इन्द्रिय रूपी साधन के द्वारा होता है।

अनुमान—इसका लक्षण भी सांख्यादि के समान है और उसी प्रकार इसके तीन भेद माने गए हैं।

शब्द—वेदादि तथा सिद्ध पुरुषों के वाक्य ही शब्द प्रमाण हैं।

न्याय-दर्शन में चार प्रमाणों को अङ्गीकार किया गया है—

(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, (४) शब्द।

प्रत्यक्ष—इन्द्रिय और अर्थ (पदार्थादि) के संयोग से प्रसूत ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—

(१) **बाह्य प्रत्यक्ष**—जिसका बाह्य इन्द्रियों (रसनादि) के द्वारा ज्ञान हो उसे बाह्य प्रत्यक्ष कहते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर यह पाँच प्रकार का होता है। सविकल्पक तथा निर्विकल्पक ज्ञान की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण में इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष ६ प्रकार का होता है—संयोग, संयुक्त-समवाय, संयुक्त-समवेत-समवाय, समवाय, समवेत-समवाय, विशेषण-विशेष्य भाव।

(२) **मानसिक प्रत्यक्ष**—मन से जो रागादि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसे मानसिक प्रत्यक्ष कहते हैं। ये सब गुण आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। मनेन्द्रिय द्वारा आत्मा उनका प्रत्यक्ष ज्ञान करती है। इन दोनों का संयोग सम्बन्ध है।

अनुमान—लिङ्ग परामर्श से उत्पन्न "पर्वत में अग्नि का" जो ज्ञान है वही अनुमिति कहलाती है। इस अनुमिति रूप प्रमा के कारण को अनुमान कहते हैं अर्थात् अप्रत्यक्ष वस्तु का लिङ्ग परामर्श के द्वारा जो ज्ञान होता है, वही अनुमान कहलाता है। यथा धूम के प्रत्यक्ष से अपरोक्ष अग्नि का ज्ञान पर्वत में हो जाता है। क्योंकि रसोईघर में भी अग्नि के साथ धूम देखा गया था। अतः यह निष्कर्ष निकाल लिया जाता है कि "जहाँ-जहाँ धुआँ होगा वहाँ-वहाँ अग्नि होगी।" इसी को व्याप्ति ज्ञान भी कहा जाता है। इसके तीन भेद होते हैं—

(१) पूर्ववत्, (२) शेषवत्, (३) सामान्यतोदृष्ट।

तर्क भाषाकार ने अनुमान के आधार पर तीन भेद किए हैं, जो प्रायः उपर्युक्त भेदों से साम्य रखते हैं। इन सबका पृथक् रूप से विवेचन किया जा सकता है—(१) अन्वय, (२) व्यतिरेक, (३) अन्वयव्यतिरेक।

जहाँ अनुमान में हेतु का पालन ठीक नहीं होता वहाँ हेत्वाभास होता है। यह पाँच प्रकार का होता है—

उपमान—प्रसिद्ध वस्तु की सधर्मता से किसी साध्य पदार्थ की सिद्धि को उपमान कहते हैं। यथा गाय लोकप्रिय वस्तु है और गवय (नीलगाय) भी गौ के समान होता है। कोई अनजान व्यक्ति (जो गवय को नहीं जानता) वनचर मानव से

यह सुनकर उपमानभूत गौ साधर्म्य से उपमेयभूत गवय का ज्ञान कर लेता है। इसी ज्ञान को उपमान कहते हैं।

शब्द प्रमाण—सत्यवादी सिद्ध पुरुष अथवा शास्त्रादि के वाक्य ही आप्त (शब्द) प्रमाण कहे जाते हैं। दृष्ट और अदृष्ट भेद से यह दो प्रकार का होता है।

मीमांसा-दर्शन में प्रभाकर गुरु को पांच प्रमाण तथा कुमारिल भट्ट को ६ प्रमाण अङ्गीकृत हैं। क्रमशः दोनों का विवेचन करते हैं।

प्रभाकर मत—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, (४) शब्द, (५) अर्थापत्ति।

प्रत्यक्ष—"प्रकरण पञ्जिका" में प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार कहा गया है। "साक्षात् प्रतीतिः प्रत्यक्षम्" अर्थात् साक्षात् उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहा जाता है। इस ज्ञान में 'मेय', 'माता' तथा 'प्रमा' तीनों ही उपस्थित रहते हैं। यथा—

'मैं घट को जानता हूँ।' इसमें 'घट' (मेय) 'मैं' (माता) 'जानता हूँ' (प्रमा) इन तीनों का एक साथ भान होता है। इसमें 'मैं' ही आत्मा का प्रतीक है। इन्होंने सन्निकर्ष दो प्रकार का स्वीकार किया है—(१) तत्समवाय, (२) तत्कारणसमवाय। प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में चार प्रकार का सम्बन्ध होता है—

(१) आत्मा और मन, (२) मन और इन्द्रिय, (३) द्रव्य और इन्द्रिय, (४) पदार्थ के रूपादि और इन्द्रिय।

सविकल्प और निर्विकल्पक दो भेद माने गए हैं।

अनुमान और उपमान का स्वरूप न्यायादि के समान ही है।

शब्द प्रमाण—जब किसी विषय का ज्ञान शब्द के द्वारा स्मरणात्मक ज्ञान होता है और उससे प्रसूत जो वाक्यार्थ का ज्ञान है उसी को शब्द प्रमाण कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं—(१) पौरुषेय, (२) अपौरुषेय। प्रभाकर ने वेद को ही शब्द प्रमाण प्रमुखतः माना है।

अर्थापत्ति—उपपाद के ज्ञान से उपपादक की कल्पना करना ही अर्थापत्ति है अर्थात् सुने हुए अथवा देखे हुए विषय की उत्पत्ति जिस अर्थ के बिना न हो उसी ज्ञान को अर्थापत्ति कहा जाता है। यथा 'मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता है।' यहाँ पर देवदत्त दिन में नहीं खाता फिर भी मोटा है, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं होता। अतः इसकी उत्पत्ति के लिए रात्रि में उसके भोजन की कल्पना करनी होगी। इसके दो भेद होते हैं—

(१) श्रुतार्थापत्ति, (२) दृष्टार्थापत्ति का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण निम्न है—'सुना जाता है कि जीवित मोहन घर पर नहीं है।' कुमारिल भट्ट ने अनुपलब्धि (अभाव) नामक प्रमाण को इनके अतिरिक्त और स्वीकार किया है।

अभाव—जब प्रत्यक्षादि से किसी पदार्थ का बोध नहीं होता है तथा उस वस्तु की अविद्यमानता का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। वहाँ अभाव प्रमाण होता है।

इन्द्रिय सन्निकर्ष भाव पदार्थों के साथ ही होगा, अभावों के साथ नहीं। अतः प्रभाव प्रमाण के द्वारा ही उन पदार्थों का ज्ञान होगा। यथा 'भूतल पर घड़ा नहीं है।' इस घड़े का अभाव इन्द्रियों से ज्ञात नहीं हो सकता है। अतः अनुपलब्धि प्रमाण से ही सिद्ध होगा।

वेदान्तदर्शन—में भी ६ प्रमाण माने गये हैं जिनके द्वारा प्रमा का ज्ञान होता है—

(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, ( ) शब्द, (५) अर्थापत्ति, (६) अनुपलब्धि (अभाव)।

प्रत्यक्ष—इन्द्रिय और विषय के सयोग से जो ज्ञात होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। न्याय के समान इसके दो भेद होते हैं—(१) सविकल्पक, (२) निर्विकल्पक। जहाँ नाम, जाति, रूपादि का प्रत्यक्ष बोध होता है उसे सविकल्पक कहते हैं। किन्तु केवल वस्तु मात्र के ज्ञान को निर्विकल्पक ज्ञान कहा जाता है। नैयायिकों आदि के समान इन्होंने मन को इन्द्रिय नहीं माना है। अतः प्रत्यक्ष के दो भेद इस आधार पर किये गये हैं—(१) इन्द्रिय जन्य, (२) इन्द्रिय अजन्य। सुख-दुःखादि का प्रत्यक्ष अजन्य है क्योंकि मन इन्द्रिय नहीं है। दृष्टा या ज्ञाता की दृष्टि से भी दो भेद माने हैं।

(१) जीवगत, (२) ईश्वरगत।

जीव साक्षी प्रत्यक्ष के अनेक हैं और ईश्वर साक्षी प्रत्यक्ष एक है। (जड़ वस्तु और ईश्वर ब्रह्म) के प्रत्यक्ष में अन्तर है क्योंकि ब्रह्म अपरोक्ष है। यथा—

'यत्आक्षादपरोक्षाद ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्त मे व्याचक्ष्व' जो साक्षात् ब्रह्म है, अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष ब्रह्म है, इन्द्रियों से दीखने वाला ब्रह्म है, जिसे आत्मा भी कहते हैं, जो सबके भीतर है, उसकी व्याख्या करो, जड़ पदार्थ के विषय में चित्तवृत्ति इन्द्रियादिकों के द्वारा विषय से सम्बन्ध होते ही तदाकाराकारिता हो जाती है और इस प्रकार यह वृत्ति वस्तुगत अज्ञान को नष्ट कर अपने मे प्रतिबिम्बित चिदाभास से उसे भी प्रकाशित कर देती है। किन्तु ब्रह्म के विषय में ऐसी बात नहीं होती। क्योंकि वह स्वयं प्रकाश है। जब मैं ब्रह्म 'हूँ' ऐसी अखण्डाकाराकारित-चित्तवृत्ति होती है उस समय उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब रहता है जिससे अज्ञान दूर हो जाता है, तथा साथ ही अज्ञान का कार्य होने के कारण चित्तवृत्ति भी नष्ट हो जाती है और अन्त में निराश्रय प्रतिबिम्ब भी (जो दर्पण के समान चित्तवृत्ति में प्रतिबिम्बित था) अपने बिम्ब ब्रह्म में ही मिल जाता है। यही ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति है। वेदान्त में शब्द ग्रहण की प्रक्रिया 'वीचीतरंगन्याय' का नहीं माना है। जैसा कि न्याय और वैशेषिक में स्वीकार किया गया है।

अनुमान—न्याय में तृतीय ज्ञान परामर्श को ही अनुमान कहा है, किन्तु वेदान्त में इसे स्वीकार नहीं किया गया। यह अनुमिति का मुख्य हेतु नहीं है। परन्तु व्याप्ति ज्ञान का सस्कार ही इस अनुमिति का साधन है। यथा "यहाँ धुआँ है" इस

पक्षधर्मता के ज्ञान से 'धूम आग वाला होता है' यह संस्कार उद्बुद्ध होता है, जिसके कारण यह भी अग्नि वाला है, ऐसी अनुमिति होती है। न्याय में अनुमान के तीन भेद हैं किन्तु वेदान्त में उसके एक भेद अन्वय व्यतिरेकी को ही स्वीकार किया गया है।

उपमान, आगम (शब्द), अर्थापत्ति, अनुपलब्धि (अभाव) प्रमाणों का वर्णन अन्य दर्शनों के समान ही है। अतः उनका विवेचन आवश्यक नहीं है। अभाव चार प्रकार का होता है—

(१) प्रागभाव, (२) प्रध्वसाभाव, (३) अन्योऽन्याभाव, (४) अत्यन्ताभाव।

पुराणों में प्रमाणों का विवेचन—पुराणों में आठ प्रमाण स्वीकार किये गये हैं। जो निम्न हैं—

(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, (४) शब्द, (५) अभाव, (६) अर्थापत्ति, (७) ऐतिह्य, (८) सम्भव। प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विवेचन ऊपर किया जा चुका है। यहाँ ऐतिह्य तथा सम्भव पर प्रकाश डालते हैं।

ऐतिह्य लोक-प्रसिद्ध, जनश्रुति अथवा परम्परागत कथनादि को भी पौराणिकों ने प्रमाण माना है। इसी को प्राचीन इतिहास-कथाओं पर आश्रित होने के कारण ऐतिह्य कहते हैं। यथा इस पीपल के वृक्ष पर जिद या भूतादि का निवास है। ऐसी जनश्रुति है। किन्तु वक्ता की योग्यता के आधार पर इसकी प्रामाणिकता संशयास्पद ही है। क्योंकि वक्ता सिद्ध पुरुष है। तो शब्द-प्रमाण में इसका अन्तर्भाव हो जायेगा और यदि वक्ता धूर्त है तो प्रमाण होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

सम्भव—जहाँ एक पदार्थ या वस्तु संख्यादि में दूसरे की स्थिति की सम्भावना हो यथा एक सहस्र में सौ आदि की सम्भावना है। १ मन में एक सेर, दस सेर, बीस सेर आदि की सम्भावना है। किन्तु प्रमाण भी अनुमान के अन्तर्गत आ जाता है।

इस प्रकार सभी दर्शनों के अनुसार प्रमाणों का विवेचन संक्षेप में कर दिया गया। सभी दर्शनों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रमाणों की न्यूनाधिक संख्या स्वीकार की है, क्योंकि सबकी विचारधारा, सबकी बुद्धि पृथक्-पृथक् है। "मुण्डे-मुण्डे मति-भिन्ना' के अनुसार रुचि-वैचित्र्य सर्वदा रहेगा। सूरदास ने भी कहा है—

"उधो मन-माने की बात।"

वास्तव में प्रमाण तीन ही मुख्य हैं। इन्हीं तीनों में सभी का अन्तर्भाव हो जाता है—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) शब्द।

और जो वेद, ईश्वरादि को नहीं मानते हैं, नास्तिक हैं, उनके लिये प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही समीचीन हैं।

प्रश्न ९—विभिन्न दर्शनों के आधार पर प्रधान प्रमेय का उल्लेख करते हुए किन्हीं तीन (सांख्य वेदान्त, न्याय) के आधार पर उसका लक्षण स्पष्ट करिये।

(आ० ८८, ९०, ९२, का० ९१, मे० ९२, गो० ८८, ९१, म० ८२, ८९, ९३, को० ७६, ८०, ८५, बना० ७५, ८०, ९२) (V. Imp.)

न्याय-दर्शन के अनुसार—१. आत्मा, २. शरीर, ३. इन्द्रिय, ४. अर्थ, ५. बुद्धि, ६. मन, ७. प्रवृत्ति, ८. दोष, ९. प्रेत्यभाव, १०. फल ११. दुःख । और १२ अपवर्ग । (यह बारह) तो प्रमेय हैं । न्याय-दर्शन में आत्मा का प्रतिपादन किया गया है ।

२—आत्मशरीरेन्द्रियार्थ बुद्धिमनः—प्रवृत्ति दोष प्रेत्यभाव फल-दुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्—उनमें से 'आत्मतत्त्व' सामान्य जिसमें रहता है वह आत्मा (कहलाता) है । वह देह इन्द्रिय आदि से पृथक् है । प्रत्येक शरीर में अलग-अलग, नित्य और विभु (व्यापक) है और वह मानस प्रत्यक्ष (का विषय) है । (अपना आत्मा मानस प्रत्यक्ष का विषय है । दूसरे में आत्मा है या नहीं । इस प्रकार का) मतभेद (अथवा सन्देह) होने पर बुद्धि आदि गुण लिङ्गक हैं । अर्थात् बुद्धि आदि गुण रूप लिङ्ग से अनुमान द्वारा सिद्ध होने वाला है । उससे वह इस प्रकार है । सबसे पहले बुद्धि आदि अनित्य होते हुये केवल एक इन्द्रिय से ही ग्राह्य होने से 'गुण' हैं और 'गुण', 'गुणी' के आश्रित ही रहता है । इसलिये बुद्धि आदि 'गुण जिस 'गुणी' के आश्रित रहते हैं वह आत्मा है । यहाँ बुद्धि आदि को गुण सिद्ध करने के लिये 'अनित्यतत्व सति एकेन्द्रिय मात्रग्राह्यत्वात्' यह हेतु दिया गया है ।

जिस इन्द्रिय से जो द्रव्य गृहीता होता है, उसी इन्द्रिय से तद्गत जाति का भी ग्रहण होता है, इसलिये जैसे सुख-दुःख आद का ग्रहण मन रूप एक इन्द्रिय से होता है इसलिये 'एकेन्द्रिय मात्रग्राह्यत्वात्' मन रूप केवल एक ही इन्द्रिय से ग्राह्य होने से सुखत्वादि जाति भी गुण कहलाने लगेगी । इस अतिव्याप्ति को धारण करने के लिये 'अनित्यत्वे सति' यह विशेषण जोड़ा गया है । सुखत्वादि जाति 'एकेन्द्रिय मात्रग्राह्य' होने पर भी अनित्य नहीं अपितु नित्य है । इसलिये यह हेतु अब उनमें नहीं जा सकता है । इस प्रकार 'अनित्यत्वे सति एकेन्द्रिय मात्रग्राह्यत्वात्' इस हेतु से बुद्धि आदि गुण हैं । यह बात सिद्ध होती है और गुण, गुणी के आश्रित ही रहता है । इसलिये बुद्धि आदि गुणों का आश्रय कोई गुणी अवश्य होना चाहिये । परन्तु आत्मा को छोड़कर अन्य जो आठ द्रव्य रह जाते हैं, वह बुद्धि 'गुणों के आश्रयभूत' 'गुणी' नहीं हो सकते हैं । इसलिये उन आठ द्रव्यों से अतिरिक्त बुद्धि आदि गुणों का आश्रय नवम द्रव्य मानना होगा । आत्मा को छोड़कर शेष जो आठ द्रव्य रह जाते हैं, उनमें से १. पृथिवी, २. अप, ३. तेज, ४. वायु और ५. आकाश यह पाँच द्रव्य 'पंचभूत' कहलाते हैं । इन पाँच भूतों के गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द आदि गुणों का प्रत्यक्ष बाह्य इन्द्रियों में होता है, मन से नहीं और बुद्धि आदि का प्रत्यक्ष मन से होता है, बाह्येन्द्रियों से नहीं । इस भेद के कारण बुद्धि आदि इन पाँचों भूतों के गुण नहीं हो सकते हैं और 'विशेषगुण' होने से बुद्ध्यादि गुण—१. दिक्, २. काल, ३. मन इन तीनों के भी गुण नहीं हो सकते हैं, क्योंकि दिक्, काल और मन इन तीनों में 'सामान्य गुण' रहते हैं, 'विशेषगुण' नहीं और बुद्धि आदि 'विशेष गुण' हैं इसलिये वह दिक्, काल और मन के भी गुण नहीं हो सकते हैं ।

'सुखादीनां वैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः'—यह भी लिखा है, इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह 'शरीरस्य आत्मा' अर्थात् 'जीवात्मा' का ही वर्णन है और उसको विभु अर्थात् व्यापक या 'परममहत-परिमाणवान् माना है। 'जीवात्मा' के इस विभुत्व को सिद्ध करने के लिये सर्वत्र 'कार्योपलम्भ' को हेतु रूप में प्रस्तुत किया है। 'सर्वत्र कार्योपलम्भात्' का अभिप्राय यह है कि न्याय सिद्धान्त में जिस वस्तु से जिस व्यक्ति को किसी प्रकार का भोग प्राप्त होता है, उस वस्तु की उत्पत्ति में वस्तु की उत्पादक अन्य कारण सामग्री के अतिरिक्त उस व्यक्ति का 'अदृष्ट' या धर्म और अधर्म भी एक कारण होता है। अतएव किसी घट के निर्माण में चक्र, चीवर, कुलाल, कपाल आदि अन्य कारण सामग्री के साथ उससे भोग होने वाले व्यक्ति का 'अदृष्ट' भी उसमें कारण होता है। एक ही कुम्भकार के बनाये और एक ही 'अवा' में पकाये गये घड़ों में भी परस्पर भेद देखा जाता है। कोई अधिक पका, कोई कम पका होता है। यह जो कार्य में भेद मिलता है इसका कारण भोक्ताओं का 'अदृष्ट' भेद ही है। वस्तु की उत्पत्ति में यदि व्यक्ति का 'अदृष्ट' कारण है तो यह मानना चाहिये कि सर्वत्र उस 'अदृष्ट' का सम्बन्ध है। यह तभी हो सकता है जबकि उस 'अदृष्ट' के अधिकरण 'आत्मा' की सत्ता सर्वत्र मानी जाए। इसलिये आत्मा की सर्वत्र सत्ता मानने के लिये उसको 'विभु' या परमहत् परिमाण वाला मानना आवश्यक है।

न्याय आदि अनेक दर्शनों में जीवात्मा को 'विभु' माना गया है परन्तु इसके अतिरिक्त आत्मा को 'मध्यम परिमाण' और 'अणु परिणाम' मानने वाले पक्ष भी पाये जाते हैं। जैन विद्वान् आत्मा को 'मध्यम परिमाण' अथवा 'देह परिमाण' मानते हैं। परन्तु 'मध्यम परिमाण' मानने में सबसे प्रमुख दोष यह है कि 'मध्यम परिमाण' वाले सभी पदार्थ अनित्य होते हैं, 'मध्यम परिमाण' जन्य या अनित्य पदार्थों में ही रहता है। नित्य पदार्थ या तो 'अणु परिमाण' वाले होते हैं अथवा 'विभु' अर्थात् 'परममहत्परिमाण' वाले 'जीवात्मा के फल' भोग आदि की व्यवस्था उसको नित्य मानने पर ही बन सकती है। इसलिये उसको नित्य मानना आवश्यक है और नित्य होने की दशा में दो ही मार्ग हैं या तो उसे 'अणुपरिमाण' माना जाए अथवा 'विभु'। 'मध्यम परिमाण' नहीं माना जा सकता है। परन्तु यह 'विभुत्वपक्ष' भी नितान्त निर्दोष पक्ष नहीं कहा जा सकता है। देहादि के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध होना ही जन्म और देहादि से उसका वियोग होना ही मृत्यु है। जन्म के समय जीवात्मा का शरीर में आना और मृत्यु के समय जीवात्मा का शरीर को छोड़ जाना यह दोनों बातें उसको 'विभु' मानने में नहीं बन सकती हैं। विभु पदार्थ तो सर्वत्र व्यापक है, उसका आना जाना नहीं बन सकता है। फिर भी जीवात्मा को भोग तो शरीरवेश में ही होता है। बिना शरीर के अथवा शरीर से बाहर तो किसी प्रकार का भोग नहीं होता किन्तु प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति में भोक्त के अदृष्ट को कारण मानकर उस पदार्थ की उत्पत्ति काल में भोक्ता के अदृष्ट का सम्बन्ध हो सके, केवल इस

दृष्टि से जीवात्मा को विभु कहा जा सकता है। यदि आत्मा को विभु मानेंगे तो उसके साथ अनेकात्मवाद के स्थान पर एकात्मवाद का मानना सुसंगत होगा जो कि नैयायिकों को अभीष्ट नहीं है। ऐसी दशा में विभुत्व पक्ष भी सुसगत प्रतीत नहीं होता। उस दशा में जीवात्मा के परिमाण के विषय में तीसरा अणुत्व पक्ष शेष रह जाता है। इस अणुत्व पक्ष में मुख्य दोष यह दिया जाता है कि शरीर के एक देश में जीवात्मा के स्थित होने पर सारे शरीर की क्रियाओं का नियन्त्रण और शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों में होने वाली वेदनाओं का अनुभव जीवात्मा को कैसे हो सकेगा? इसका समाधान अधिक कठिन नहीं है। शरीर की रचना में तारयन्त्र के समान इस प्रकार व्यवस्था की हुई है कि किसी भी स्थान पर हुई क्रिया की सूचना तुरन्त केन्द्र स्थान में पहुँच जाती है और उसकी प्रतिक्रिया उचित स्थान पर हो जाती है। इसके लिये शरीर में ज्ञातबाही और क्रियाबाही तन्तु माने गये हं। उनके द्वारा आत्मा को एक देशस्थ मानने पर भी देहव्यापिनी क्रियाओं के नियन्त्रण में कोई बाधा नहीं होती। इसलिये जीवात्मा को अणु परिमाण मानने में कोई बाधक हेतु प्रतीत नहीं होता है। उपनिषदों में जीवात्मा के अणुत्व के प्रतिपादक अनेक वचन भी मिलते हैं। उनमें कुछ वाक्य यहाँ दे रहे हैं—

'एषो अणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः'।

'अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रोऽयं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।'

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।

तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रममृतमितिः।

इन वाक्यों में 'अंगुष्ठमात्रा,' शब्द जीवात्मा के अणुत्व का ही सूचक है। 'अंगुष्ठमात्रं पुरुष निश्चकर्ष यमो बलात्' आदि वचनों में अन्यत्र भी आत्मा को अगुष्ठमात्र' कहा गया है। परन्तु यहाँ अंगुष्ठमात्र पद सूक्ष्म शरीर सहित आत्मा का ग्राहक है अथवा लक्षण या अणुत्व का बोधक है, यही मानना होगा।

आत्मा का स्थान—अणु होने की अवस्था में शरीर में आत्मा का स्थान कौन-सा माना जाए? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसका उत्तर उपयुक्त कठोपनिषद के वाक्य में ही मिल जाता है 'सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः' कहकर कणोपनिषद् ने हृदय को ही उसका स्थान माना है। भारतीय विचारधारा के अनुसार हृदय ही आत्मा का स्थान है। इसलिये हृदय शब्द को 'हृदिअयम् हृदयम्' यही निरूपित किया गया है। 'तस्य एतदेव निरुवत हृदि अयम् हृदयमिति'। यूयानी दार्शनिकों में 'अरस्तू' (३८४ से ३२२ ई० पूर्व) हृदय को ही ज्ञान और आत्मा का केन्द्र मानता था। सतरहवीं शताब्दी में प्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक 'डेकार्टे' (१६९६ से १६५०) ने हृदय के स्थान पर मस्तिष्क की नलिका में स्थित 'पीनियल' नामक ग्रन्थि को ज्ञान अथवा आत्मा का केन्द्र माना है। हमने अपने 'दर्शन मीमांसा ग्रन्थ में इस सब को इस प्रकार लिखा है—

तत्रात्मा चेतनो नित्यो, ज्ञानादीनां समाश्रयः।
समाहितैकधीगम्यो, स्वगुणानुमितोऽथवा ॥१॥
न्यायसूत्रेषु प्राधान्याज्जीवात्मैव निरूपितः।
पारं शास्त्रेषु जीवात्मा, परमात्मा चेति स द्विधा ॥२॥

वेदान्त-दर्शन में प्रधान प्रमेय आत्मा ही है। आचार्य शंकर ने कठोपनिषद्-भाष्य में एक प्राचीन श्लोक उद्धृत करते हुए आत्मा के चार व्युत्पत्तिमूलक अर्थों का उल्लेख किया है—

यदाप्नोति यदादत्ते, यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते ॥

सामान्यतः इसकी व्युत्पत्ति 'अत्' धातु में उणादि के 'मनिन्' प्रत्यय लगने से मानी जाती है। जो हो, आत्मा केवल एक दार्शनिक शब्द ही नहीं है, निजवाचक सर्वनाम के दो रूप में अपने को द्योतित करने के लिये भी यह प्रयुक्त होता है। अतः अपने शरीर की चेतना का इससे द्योतन होता है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा की सिद्धि के लिये कोई प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। वह स्वयं सिद्ध है। उसके अस्तित्व को कोई अस्वीकृत नहीं कर सकता। अस्वीकृत करने वाला स्वतः आत्मा है। सभी को अपनी सत्ता का अनुभव होता है—'मैं नहीं हूँ' ऐसा कोई नहीं सोचता—

आत्मनः प्रत्याख्यातुम् अशक्यत्वात्। य एव निराकर्त्ता तस्यैव आत्मत्वात्।
सर्वो हि आत्मास्तित्व प्रत्येति। न नाहमस्मीति।

प्रमाणों से ही आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि आत्मा ही सभी प्रमाणों का आधार है। इसके विषय में कोई शंका भी नहीं की जा सकती क्योंकि यही सब संशयों का आधार है।

यतः सिद्धिः प्रमाणानां स कथं तैः प्रसिध्यति।

आत्मा निर्विशेष चैतन्य है। यह सम्पूर्ण मानसिक व्यापारों को प्रकाशित करता है, अतः ज्ञान स्वरूप है। 'मैं जानता हूँ', मैंने जाना', मैं जानूँगा', 'मैं मोटा हूँ', 'मैं लंगड़ा हूँ', 'मैं सोचता हूँ', इनसे प्रकट होता है कि कहीं हम आत्मा को ज्ञाता समझते हैं, कहीं शरीर, कहीं इन्द्रिय और कहीं मन इत्यादि। पर इन सबमें सदा वर्तमान रहने वाला एक ही तत्त्व है, वह है ज्ञान। आत्मा चाहे जिस रूप में प्रकट हो, चैतन्य ही उसका वास्तविक धर्म है और इस ज्ञाता को ही विषय बनाकर कैसे और किसके द्वारा देखा जा सकता है?

विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्?

इसलिये श्रुति 'नेति नेति' कहकर चुप हो जाती है। संसार के जितने भी विषय पदार्थ हैं वे आत्मा नहीं हैं, विषयी ही आत्मा है, पर इस विषयी को कैसे जाना जाये?

आत्मा 'सत्' है उसकी सदा सत्ता रहती है। वह नित्य और अविकारी है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में वह कभी बाधित नहीं होता। वह न कभी जन्म लेता है, न मरता है, वह त्रिकाल अबाधित, एक अद्वितीय निर्विकार सत्ता है।

आत्मा न भोक्ता है, न कर्त्ता। वह धर्म और अधर्म से रहित है। वह अपने कर्मों का फल नहीं भोगता। कुटस्थ (Immutable) होने के कारण वह निष्क्रिय है। बुद्धि आदि की उपाधियों से युक्त होने पर वह अपने को भोक्ता समझने लगता है—

'न हि केवलस्यात्मनो भोक्तृत्वमस्ति।
बुद्धयाद्युपाधिकृतमेव तस्य भोक्तृत्वम्॥

आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त है। वह अतीन्द्रिय, निर्गुण, नित्यचैतन्य है। वह अविकारी, अपरिवर्तनशील, निरपेक्ष और नामरूप से हीन है। यही आत्मा ब्रह्म है जो जगत् का आधार है। यह उसका अंश नहीं है, क्योंकि ब्रह्म के खण्ड नहीं हो सकते। वह अखण्ड है। यह पूर्णतः उसका स्वरूप ही है। ब्रह्म ही जगत् का आधार है। अतः सम्पूर्ण विश्व ही आत्मा है—अन्य कुछ नहीं है।

'न हि आत्मतोऽन्यत्······तत् प्रविभक्तदेशकालं भूतं भवत् भविष्यद्वा वस्तु विद्यते'।

अतः वह अणु से भी अणीयान् है और महत् से भी महीयान्—

अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मास्य जन्तोर्निहित गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको, धातुप्रसादात् महिमानमात्मनः॥

ये सम्पूर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देवता सभी आत्मा के ही स्वरूप हैं—

'इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमं लोका इमे देवा इमानि भूतानि इदं, सर्वंयदयमात्मा'।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है। इसकी स्थिति तभी तक है जब तक अज्ञान के कारण चित्त में इसकी प्रतीति होती रहती है। आत्मा प्राणिगत चैतन्य है, अतः सम्पूर्ण संसार आत्मा के लिये ही प्रिय होता है। पति, पुत्र, पत्नी, धन आदि केवल इसलिये प्रिय होते हैं कि वे आत्मा को प्रिय लगते हैं। अतः आत्मा का ही दर्शन, श्रवण और मनन करना चाहिये। बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य मैत्रेयी-संवाद में इस तथ्य की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है—

'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनदंष्टं सर्वं विदितम्'।

जब आत्मा अविद्या की उपाधि से परिच्छिन्न हो जाता है तो उसकी संज्ञा 'जीव' हो जाती है—देशकाल की कल्पना माया जनित है—

'माया कल्पित देशकाल कलना वैचित्र्यचित्रीकृतम्'।

आत्मा उससे रहित है और जीव उससे परिच्छिन्न है। यह जीव अविद्या की मलिन सत्वयुक्त उपाधि से युक्त है। जीव ही कर्त्ता है, वह सक्रिय है, वही कर्म करके उत्तरदायी होता है। यही आत्मा स्वभावत: सक्रिय होता तो वह कभी नहीं होता—

'स्वाभाविकं कर्तृत्वम् आत्मन संभवति अनिर्मोक्षप्रसंगात्'।

सांख्य दर्शन—इस सांख्य शास्त्र में २५ (पच्चीस) प्रमेय या तत्त्व माने गये हैं। जैसे– (१) पुरुष, २) प्रकृति, (३) महान्, (बुद्धि) (४) अहंकार, (५) शब्द तन्मात्र, (६) स्पर्श तन्मात्र, (७) रूप तन्मात्र, (८) रस तन्मात्र, (९) गन्ध तन्मात्र (तन्मात्र=सूक्ष्म), (१०) मन, (११) श्रोत्र, (१२) त्वक्, (१३) चक्षु, (१४) रसना, (१५) घ्राण, (१६) वाक्, (१७) पाणि, (१८) पाद, (१९) पायु, (२०) उपस्थ, (२१) आकाश, (२२) वायु, (२३) तेज, (२४) जल, (२५) पृथ्वी। इनमें पुरुषतत्त्व नित्य और निर्लेप है, अत: वह न किसी दूसरे तत्त्व का प्रकृति (जनक) है और न किसी तत्त्व का वह विकृति (विकार जन्य)। यही प्रधान प्रमेय है जो वेदान्त की आत्मा से मिलता है। (२) प्रकृति तत्त्व इसे सत्त्व, प्रधान और अव्यक्त भी कहते हैं, क्योंकि—यही तत्त्व सांख्यशास्त्र के मत के अनुसार संसार के प्रपञ्च का कारण है, और इसी से बाकी के २३ तत्त्व उत्पन्न होते हैं, अत: इसे 'मूल प्रकृति' (आदि कारण) भी कहते हैं। यह नित्य है, अत: यह किसी की विकृति नहीं है, किन्तु इसी की विकृतियाँ बाकी के 23 तत्त्व हैं (१) महान्, (२) अहंकार ३ ७ पंचतन्मात्रा ये सात तत्त्व प्रकृति भी हैं और विकृति भी हैं। क्योंकि महत्तत्व प्रकृति का तो विकार है, और अहंकार की प्रकृति है अहंकार भी महान् का विचार है, पंचतन्मात्राओं की प्रकृति है और पंचतन्मात्रायें भी अहंकार की विकृति हैं और पंचमहाभूतों की प्रकृति हैं। अत: ये सातों प्रकृति-विकृति कहलाते हैं। मन और पाँचों ज्ञानेन्द्रिय (श्रोत आदि) तथा ५ (पांचों) कर्मेन्द्रिय (वाक् आदि), पंचमहाभूत (आकाश आदि) ये १६ तत्त्व किसी के भी प्रकृति नहीं हैं। किन्तु ये १६ तत्त्व अहंकार से ही उत्पन्न होते हैं, अत: ये अहंकार की विकृति हैं। इसलिये इनको 'विकार' कहा जाता है। किसी जगह (गीता आदि में) (१) मूल प्रकृति, (२) महत्तत्व, (३) अहंकार, (४) ८ पंचतन्मात्रा इनको प्रकृति कहा है। इसलिये प्रधान प्रकृति तत्त्व के लिये मूल (प्रधान) शब्द लगाया गया है। इस प्रकार इन २ तत्त्वों में सभी जगत् आ जाता है। क्योंकि सर्वत्र ये ही २५ तत्त्व व्याप्त हैं। इनमें प्रथम पुरुषतत्त्व 'ज्ञ' कहलाता है। इसे 'दृक् शक्ति' 'चिति शक्ति' 'चैतन्य' आदि नामों से भी कहा जाता है और प्रकृति 'अव्यक्त' कहलाती है। क्योंकि सभी जगत् इस प्रकृति तत्त्व में ही अव्यक्त अवस्था में विद्यमान रहता है। महत्तत्व आदि के बाकी २३ तत्त्व व्यक्त कहलाते हैं। इसी प्रकार इन 'व्यक्त' 'अव्यक्त' और ज्ञ के तत्त्व (रहस्य) को ठीक-ठीक जान लेने से, सब दु:खों की निवृत्ति होकर परम सुख (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। प्रमेय (२५ तत्त्वों) की सिद्धि और ज्ञान प्रमाणों से ही हो सकता है, अत: प्रमेय (पदार्थों) के साधन के लिये इस सांख्यशास्त्र में तीन ही प्रमाण माने गये हैं।

यद्यपि पुरुष का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है, और उसमें कार्य हेतुक अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि पुरुष के तो कोई भी कार्य नहीं हैं, वह तो अपरिणामी, अकर्त्ता, निर्लेप है। परस्पर मिलकर काम करने वाले पदार्थ किसी दूसरे के ही लिये काम करते देखे जाते हैं। जैसे सैनिक आदि राजा के लिये ही मिलकर काम करते हैं, अपने लिये नहीं वैसे ही प्रकृति तत्त्व भी जिसके लिये भोग, मोक्ष आदि यह सब कार्य करते हैं, वही पुरुष है। अव्यक्त-प्रकृति के तथा प्रकृति के व्यक्त कार्यों के बुद्धि आदि पृथिव्यन्त व्यक्त तत्त्वों के साधर्म्य और वैधर्म्य के ज्ञान से ही व्यक्त और अव्यक्त का विज्ञान होता है, इसी से पुरुष के साथ इनके भेद का भी ज्ञान होता है। इसी को सत्व (प्रधान) पुरुषान्यताख्याति (प्रधान और पुरुष भेद ज्ञान) कहते हैं। इससे ही अपवर्ग (मोक्ष) रूप परमसुख की प्राप्ति होती है। इसीलिए साधर्म्य और वैधर्म्य का ज्ञान आवश्यक है।

चार्वाक शरीर को ही अभीष्ट मानते हैं। बौद्धों ने बुद्धि को, जैनों ने 'जीव' को ही प्रधान प्रमेय माना है। वैशेषिक ज्ञान के अधिकरण को ही प्रधान प्रमेय मानते हैं। मीमांसकों ने आत्मा को स्वीकार किया है।

प्रश्न १०—विभिन्न दर्शनों की पद्धतियों में से किसी एक (वेदान्त) के औपनिषद् मूल का विवेचन करिये।

(आ० ६२, बना० ८६, ६२, ६३, दि० ७५, ८१, ७७, ६२) **(V. Imp.)**

संसार के आवरण से छुपे हुए ब्रह्म का साक्षात्कार कराने के लिए वेदान्त ही अलौकिक दीपशिखा है, इसीलिए उपनिषदों ने कहा है—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चतार्थाः।
सन्न्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः॥ मुण्डक ६२६॥

वेदान्त का उद्गम उपनिषदों से हुआ है। वे उपनिषदें वेद अर्थात् ऋग्वेदादि वेद-चतुष्टयी के अन्त में प्रादुर्भूत हुईं। इस प्रकार ऐतिहासिक आधार पर ही कुछ विद्वान इसे वेदान्त कहते हैं। परन्तु ऐतिहासिक आधार पर इसका वेदान्त नाम मनुष्य की जन्मपत्री में लिखे हुए 'राशिनाम' की तरह निकम्मा और निरभिप्राय सा लगता है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर चिपका हुआ वेदान्त अपने वास्तविक तत्त्व को दिखाने में सर्वथा असफल है। भारतीय दर्शनों में पारस्परिक मतभेद होते हुए भी मौलिक सिद्धान्त प्रायः एक से ही हैं। ईश्वर, पूर्वजन्म, आत्मा और मोक्ष आदि महत्वपूर्ण विषयों में सबकी समान आस्था है। संसार को दुःख रूप प्रतिपादन करने में सभी एक मत हैं। वैसे तो हमारे सभी दर्शन लौकिक एवं अलौकिक, इन्द्रियगम्य और इन्द्रियातीत सृष्टि और उसकी उत्पत्ति या विकास आदि का वर्णन करते हैं। परन्तु उसकी प्रणाली प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणों से सिद्ध करके तत्त्वों की स्थापना करने की है। इसका प्रतिपादन एवं प्रतिपाद्य लौकिक और अलौकिक दोनों पक्षों से समन्वित है। वेदान्त ही एक ऐसी पद्धति है जिसका तीव्र चिन्तन लोक के आयस

आवरण को चीर कर अलौकिक जगत् में गम्भीरता से प्रवेश करके लोकातीत रहस्य को आलोकित करता है। अतएव भारतीय दर्शन पद्धति में वेदान्त का स्थान सर्वोपरि है, इसमें किंचिन्मात्र सन्देह नहीं।

'वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणम्' अर्थात् उपनिषदों को प्रमाणस्वरूप मानकर चलने वाला शास्त्र वेदान्त है। उपनिषद् शब्द से ज्ञानकाण्ड के उस विशाल दार्शनिक साहित्य का बोध होता है जो वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुआ था, पर इस शब्द के मूल अर्थ के विषय में कुछ मतभेद है। यह उप और नि उपसर्गपूर्वक सद् धातु से क्विप् प्रत्यय करने से बना है। सद् धातु के विक्षरण (नष्ट होना) गति (जाना या प्राप्त होना) तथा अवसादन (शिथिल करना) आदि तीन अर्थ हैं। **(षद्लृविक्षरणगत्यवसादनेसु)** शंकराचार्य ने इन तीनों अर्थों का सुन्दर समन्वय अपने कठोपनिषद्भाष्य में किया है। इसके अनुशीलन से मुमुक्षु जनों की संसार बीजरूपी अविद्या नष्ट हो जाती है (विक्षरण)। वह ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है। (गति उपनिषद्यते ब्रह्मसमीपम्) तथा मनुष्य के गर्भवास, जन्म, जरा, मृत्यु आदि दुःख सर्वथा शिथिल हो जाते हैं (अवसादन)। शंकराचार्य ने यह भी कहा है कि उपनिषद् का मुख्य अर्थ है ब्रह्म विद्या तथा गौण अर्थ है ब्रह्म विद्या प्रतिकारक ग्रन्थविशेष। **'तस्माद् विद्याया मुख्यया वृत्या उपनिषच्छब्दो वर्तते ग्रन्थे तु भक्त्या।"** अर्थ बैठना भी अग्नि के समीप तपस्या तथा ध्यान से प्राप्त रहस्यात्मक 'ज्ञान' किया है। नारायण ने अपनी मनुस्मृति की टीका माना है।

वस्तुतः उपनिषद् शब्द का मूल और प्राचीनतम भाव था 'किसी गुप्त ज्ञान की प्राप्ति के लिए शिष्य का गुरु के समीप बैठना'। विकास की दूसरी दशा में इसका अर्थ हुआ वह गोपनीय ज्ञान या सिद्धान्त जो ऐसी गुप्त स्थिति में प्रदान किया जाए, सामान्यतः उपनिषदों के लिए 'रहस्यम्' पर्यायवाची प्रयुक्त किया जाता है जिसका अर्थ 'रहति भवम्' या एकान्त में बताया जा सकने वाला है। स्वय उपनिषदों में ही 'इतिरहस्यम्' 'इत्युपनिषद' आदि शब्द गुप्त सिद्धान्तों के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। सर्व प्राचीन उपनिषद् वे हैं जो ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्त में जुड़े हुए होते हैं। ऐसे उपनिषद् संख्या में छः हैं, दो-दो की संख्या में वेदत्रयी में विभक्त हैं। (क) ऐतरेय (ऐतरेय ब्राह्मण, ऋग्वेद), कौषीतकि (कौषीतकि ब्राह्मण, ऋग्वेद), (ख) तैत्तिरीय (तैत्तिरीयसंहिता, कृष्णायजुर्वेद), बृहदारण्यक (शतपथ ब्राह्मण, शुक्ल यजुर्वेद), छान्दोग्य (छान्दोग्य ब्राह्मण सामवेद) की ताण्ड्य शाखा, केन (तलवकार या जैमिनीय ब्राह्मण सामवेद) ये सभी उपनिषद् गद्य में हैं, केवल केनोपनिषद् का आधा भाग पद्यमय है, और वह इस श्रेणी में सबसे परवर्ती है। ये छः उपनिषद् भारतीय दर्शन के विकास की प्रारम्भिक अवस्था को सूचित करते हैं और इनमें वेदान्त दर्शन अपने शुद्ध तथा मूल रूप में सुरक्षित है।

उपनिषदों का यही 'वेदान्त' कहा जाता है जो कई अर्थों में उपयुक्त है।

(१) प्रथम तो ये सभी भाग बाद के उत्पादन हैं। वेदशब्दवाच्य संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थों में इनकी रचना सबसे बाद में हुई है। (२) इस समय तक संहिता-ब्राह्मणादि केवल मौखिक रूप में ही थे। उनका ज्ञान केवल गुरु से प्राप्त किया जा सकता था और गुरु भी वैदिक शिक्षाक्रम में सबसे अन्त में पढ़ाते थे क्योंकि यज्ञादि के रहस्यों तथा दार्शनिक विचारों से युक्त होने के कारण ये अधिक जटिल तथा कठिन थे। (३) वेदों के स्वाध्याय क्रम में उपनिषदों ग्रन्थों का अन्त में पाठ पुण्यशाली समझा जाता था। (४) आचार्यों के अनुसार उपनिषद् ग्रन्थों में वेद (ज्ञान) अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। इनमें ज्ञान की पराकाष्ठा है।

किन्तु वेदों के अन्तिम साहित्य उपनिषदों में ज्ञान की प्रमुखता है। यद्यपि सम्पूर्ण उपनिषदों में बाह्य रूप से विभिन्न विचारधाराओं का प्रतिपादन है। किन्तु उनके मूल में आनन्दोपलब्धि तथा अद्वैत की भावना है। वस्तुत: जो परस्पर विरोधी या द्वैतता की भावनायें उपलब्ध होती हैं कि क्रमश: साधक को परमतत्व (ब्रह्म) पहुँचाने के साधन (सोपान) हैं। इस प्रकार स्थूलता से अग्रसर होकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्व को अधिगम किया जा सकता है। इन्हीं विचार शृंखलाओं के मेरुदण्ड पर विभिन्न दर्शनों की रचना हुई। यद्यपि सभी दर्शनों का निष्कर्ष अथवा लक्ष्य निःश्रेयस की उपलब्धि तथा दुःखों की निवृत्ति है। किन्तु उनमें मुक्ति को चरम परिणति अद्वैत की भावना नहीं है। यह ध्रुव सत्य है कि जब तक भेदभाव बना रहेगा, तब तक ईर्ष्या, राग, द्वेषादि बने रहेंगे। अत: इन दर्शनों की मुक्तावस्था आत्यन्तिक दुःख राग निवृत्ति नहीं कर पाती। अनात्मवादी, अनीश्वरवादी, ईश्वरवादी, नास्तिक और आस्तिक सभी दर्शन क्रमश: स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ते हुए प्रतीत होते हैं। किन्तु उस निर्विकल्प आज आनन्दस्वरूप, निर्विकल्पक, निरपेक्ष, निष्क्रिय तथा अनन्त सत्ता का वैज्ञानिक विश्लेषण वेदान्त में ही हुआ है। अत: उसी का सर्वोपरि स्थान है।

भागलक्षणा के द्वारा दोनों के चैतन्य स्वरूप की अभिन्नता प्रतिपादित हो जाती है। ब्रह्म जीव और जगत् का एकीकरण हो जाता है तथा निम्न दशा हो जाती है।

प्रत्यग्बोधो य आभाति सोऽद्वयानन्दलक्षणः।
अद्वयानन्दरूपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणः ॥

इस स्थिति में साधक को "अहं ब्रह्मास्मि" का अनुभव होने लगता है। इस प्रकार चैतन्य प्रतिबिम्ब सहित अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति के द्वारा प्रत्यक् (जीव) चैतन्य का अज्ञानावरण विच्छिन्न हो जाता है और ब्रह्ममात्र ही रह जाता है। इसके लिए 'मैं शुद्ध, बुद्ध, ब्रह्म हूँ, ऐसी तदाकाराकारित चित्तवृत्ति तथा तद्गत चिदाभास दोनों की आवश्यकता होती है। बिना चित्तवृत्ति के अज्ञान भी नष्ट नहीं हो सकता और न चैतन्याभास ही होगा। यद्यपि चित्तवृत्ति भी अज्ञान का ही कार्य है। फिर भी वह वांछनीय है जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया है।

मनसंवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह तानेव पश्यति ॥

अतः अज्ञानावरण से दूर होकर ब्रह्मज्ञान होने के भाव से कही गई निम्न श्रुतियाँ समीचीन हैं—

मनसैवानु द्रष्टव्यम् 'मनसैवेदमाप्तव्यन्' दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।

अतः स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म विषयक अज्ञान के नाश के लिए वृत्ति व्याप्त की अपेक्षा है। किन्तु अज्ञानावरण के विलीन हो जाने पर जब स्वयं प्रकाश चैतन्य (फल चैतन्य) शेष रह जाता है तब वृत्ति की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि उसे कोई प्रकाशित नहीं कर सकता। वहाँ किसी की गति नहीं है। अतः निम्न श्रुतियाँ भी युक्ति संगत है—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतम्।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

अर्थात् जिस पदार्थ का मन से मनन नहीं हो सकता है वह मन को भी मनन की शक्ति देने वाला है। प्रत्युत उससे अपने व्यापार में समर्थ होता है। उसी को तुम ब्रह्म समझो।

अपि च—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

अर्थात् वाणी जहाँ से लौट आती है। मन जिसे प्राप्त नहीं कर सकता, उस आनन्दरूप ब्रह्म को जान लेने वाला कभी भयभीत नहीं होता।

कठोपनिषद् में भी कहा गया है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो नमेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनु स्वाम् ॥

इस प्रकार अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति अपने कार्य को सम्पन्न कर उसी प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार कतक चूर्ण पानी की मलिनता को दूर कर उसी में विलीन हो जाता है।

प्रश्न ११—'प्रमाकरण प्रमाणम्' से आप क्या तात्पर्य समझते हैं? इसको स्पष्ट करिये तथा नैयायिकों ने मीमांसकों के लक्षण की क्या आलोचना की है? समीक्षात्मक टिप्पणी दीजिये।

(आ० ८२, ८८, ९०, मे० ९१, ना० ८७, गो० ८८, ९२)। **(V. Imp.)**

भाष्यकार वात्स्यायन ने 'प्रमाण शब्द का निर्वचन ही उसका लक्षण माना है अतएव सूत्रकार को उसको अलग लक्षण करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार का भाव व्यक्त करते हुए लिखा है—

'उपलब्धि साधनानि प्रमाणानीति समाख्या निर्वचन सामर्थ्या द्बोद्धव्यम् । प्रमीयते अनेन इति करणार्थाभिधानो हि प्रमाण शब्द'।

इसका अभिप्राय यह है कि उपसर्ग पूर्वक मा धातु से करण में ल्युट् प्रत्यय करने से प्रमाण शब्द सिद्ध होता है। अतएव प्रमा का करण अर्थात् साधन प्रमाण कहलाता है। यह प्रमाण का सामान्य लक्षण प्रमाण पद के निर्वचन से ही निकल आता है। अतएव उपलब्धि अर्थात् ज्ञान अथवा प्रमा के साधन अर्थात् करण को प्रमाण कहते हैं।

'प्रमाकरण' प्रमाणम्—यह प्रमाण का सामान्य लक्षण किया था। उसके स्पष्टीकरण के लिये 'प्रमा' का लक्षण करना आवश्यक है। अतएव 'यथार्थानुभव' 'प्रमा' यह 'प्रमा' का लक्षण किया है। इस लक्षण में भी 'प्रमा' यह पद लक्ष्य अंश है और 'यथार्थानुभवः' इतना लक्षण अंश है। लक्षण अंश में यथार्थ और अनुभव इन दो पदों का समावेश है। लक्षण में ये दोनों पद विशेष अभिप्राय से रखे गये हैं। इन पदों के रखने का प्रयोजन अतिव्याप्ति दोष का निराकरण करना ही है। यहाँ यदि यथार्थ पद को हटा दिया जाए तो 'अनुभवः प्रमा' केवल इतना लक्षण रहता है। इस लक्षण के रहने पर शक्ति को रजत रूप में ग्रहण करने वाला 'भ्रम' या 'विपर्यय' ज्ञान भी अनुभव रूप होने से 'प्रमा' कहलाने लगेगा। अथवा अन्धेरे में किसी ऊंचे से पेड़ के ठूंठ को खड़ा देखकर 'स्थागुर्वा पुरुषो वा' यह 'संशयात्मक' ज्ञान भी अनुभव रूप से होने से 'प्रमा' कहलाने लगेगा। इसी प्रकार तर्क ज्ञान में भी प्रमा का लक्षण चला जायेगा। परन्तु संशय, विपर्यय और तर्क ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं हैं। उनको 'प्रमा' नहीं कहा जाता है। इसी प्रकार स्मृति को भी प्रमा नहीं मानते हैं। अतएव स्मृति में प्रमा के लक्षण की अतिव्याप्ति के निवारण के लिये अनुभव पद का निवेश इस लक्षण में किया गया है।

जो पदार्थ जैसा है उसको उसी रूप में ग्रहण करना यथार्थ ज्ञान अथवा 'प्रमा' कहलाता है। उससे भिन्न रूप में ग्रहण करना अयथार्थ ज्ञान या अप्रमा कहलाता है।

इस प्रकार ज्ञान के तीन भेद हुये एक 'अनुभव' दूसरा 'स्मृति' और तीसरा 'प्रत्यभिज्ञा'। इनमें से केवल 'यथार्थ अनुभव' को 'प्रमा' कहते है। और इस यथार्थ अनुभव के 'करण' को 'प्रमाण' कहते हैं। इस यथार्थानुभव रूप प्रमा की उत्पत्ति ही प्रमाणरूप करण का साध्य या फल है। प्रमाण के 'प्रमाकरणम् प्रमाण' इस लक्षण में 'प्रमा' पद आया है, उसकी व्याख्या यहाँ तक हो गई, अब लक्षण का दूसरा पद 'करण' रह जाता है। 'करण' और उसके प्रसंग से 'कारण' की व्याख्या करते हैं।

साधकतम को करण कहते हैं। अतिशयित साधक अर्थात् सर्वोत्कृष्ट करण (साधकतम होने से करण कहलाता है) साधक और करण तो पर्यायवाचक हैं, यही नहीं मालूम है कि कारण क्या है ? (अर्थात् कारण किसको कहते हैं, यह जब तक न

मालूम हो तब तक साधकतम अर्थात् प्रकृष्ट कारण रूप करण का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतएव कारण का लक्षण बतलाने की आवश्यकता है। जिसको कार्य (अर्थात् उत्पन्न होने वाले घटादि पदार्थ) से पहिले सत्ता निश्चित हो और जो अन्यथा सिद्ध न हो उसको कारण कहते हैं। जैसे तन्तु और वेमा (अर्थात् कपड़ा बुनने का साधन रूप दण्ड विशेष) आदि पट के साधन हैं।

जो (यह भट्ट मतानुयायी मीमांसकों तथा दिङ्नाग आदि बौद्ध आचार्यों ने) अनधिगत अर्थात् अज्ञात अर्थ के ज्ञापक को प्रणाम कहते हैं, यह लक्षण किया है वह ठीक नहीं है। एक ही घट में (निरन्तर कई क्षण तक) यह घड़ा है, यह घड़ा है इस प्रकार ज्ञान घट का ज्ञान कराने वाली धारावाहिक (द्वितीय आदि) बुद्धियों के (ग्रहीतग्राही होने से) अप्राभाण्य प्राप्त होने से (अनधिगतार्थ गन्तृप्रमाणं यह प्रमाण का लक्षण ठीक नहीं है)। यदि मीमांसक आदि यह कहें कि प्रथम द्वितीय आदि) अलग-अलग क्षण विशिष्ट घट का ग्रहण होने से (द्वितीयादि ज्ञानों में भी) अनधिगतार्थगन्तृता हो सकती है (इसीलिये धारावाहिक बुद्धिस्थल में अप्रामाण्य नहीं होगा) यह भी प्रत्यक्ष से सूक्ष्म (क्षण रूप) काल भेद के ग्रहण न होने से, ठीक नहीं है। काल भेद का ग्रहण होने पर तो क्रिया से लेकर संयोग पर्यन्त चारों (व्यापारों) से यौगपद्य (एक साथ होने) प्रतीति न हो। (जब एक वस्तु एक स्थान को छोड़कर (दूसरी जगह जाती है तब उसके दूसरी जगह पहुँचने तक चार व्यापार होते हैं) (१) क्रिया, (२) क्रिया, से विभाग, (३) बिभाग से पूर्व संयोग नाश और (४) उत्तर प्रदेश संयोग की उत्पत्ति परन्तु यह चारों व्यापार अलग-अलग अनुभव में नहीं आते क्योंकि वह अत्यन्त शीघ्रता से हो जाते हैं। इसीलिये सूक्ष्म काल भेद का प्रत्यक्ष से ग्रहण सम्भव न होने से 'धारावाहिक' बुद्धिस्थल में क्षण विशिष्ट घट का ग्रहण नहीं माना जा सकता है। अतः द्वितीयादि ज्ञानों के गृहीतग्राही होने से 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' यह लक्षण उसमें अव्याप्त होगा, अतः यह ठीक नहीं है। बौद्ध परम्परा में आचार्य दिङ्नाग ने अनधिगतार्थगन्तृतृ को प्रमाण लक्षण में समावेश करने का प्रयन्न किया है—

'अज्ञातार्थ ज्ञापकं प्रमाणम् इति प्रमाण सामान्य लक्षणम्।

इस प्रकार प्रमाण का लक्षण किया गया है। अर्थात् अग्रहीतग्राही ज्ञान ही प्रमाण है।

'अतएव अनधिगत विषय प्रमाणम्। येनैव हि ज्ञानेन प्रथममधिगतोऽर्थः तेनैव प्रवर्तित पुरुष प्रापितश्चार्थः तत्रैवार्थे किमन्यन ज्ञानेन अधिक कार्यम् ततोऽधिगत विषयमप्रमाणम्।

धारावाहिक ज्ञानों में से रोगियों के धारावाही ज्ञान में भट्ट मीमांसकों के अनुसार सूक्ष्मकाल भेद का ग्रहण मानकर उसको प्रमाण माना है और लौकिक पुरुषों के धारावाहिक ज्ञान में न्याय के अनुसार सूक्ष्मकाल भेद का ग्रहण सम्भव न

होने से उसको अप्रमाण कहा है। न्याय के प्रमाण लक्षण से अज्ञातार्थ ज्ञापकत्व अभीष्ट नहीं है। बौद्धों ने अज्ञातार्थ ज्ञापकं प्रमाणम्' वह प्रमाण का सामान्य लक्षण माना है। अतएव उसके मत में धारावाहिक बुद्धि का प्रामाण्य सूक्ष्म कालभेद का ग्रहण होने पर ही सम्भव है। धारावाहिक बुद्धि के प्रामाण्य के विषय में न्याय वैशेषिक, मीमांसा, बौद्ध, जैन आदि अनेक दर्शनों में विचार किया गया है। अधिकांश लोग धारावाहिक बुद्धिस्थल में द्वितीयादि क्षणों में होने वाले 'अयं घट:' इत्यादि ज्ञान के प्रामाण्य का ही प्रतिपादन करते हैं परन्तु उनके प्रतिपादन की शैली भिन्न-भिन्न है। इसके प्रामाण्य सिद्ध करने की चिन्ता विशेष रूप से उनको करनी पड़ती है जो 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' इस प्रकार प्रमाण का लक्षण करते हैं। न्याय वैशेषिक आदि में प्रमाण के लक्षण में अनधिगतत्व का कोई उल्लेख नहीं किया गया है, इसलिये उनके यहाँ अधिगत विषयक ज्ञान भी प्रमाण ही है। इस प्रकार न्याय और वैशेषिक के आचार्यों ने धारावाहिक बुद्धि स्थल में उत्तर विज्ञानों को प्रामाण्य ही माना है और उसमें सूक्ष्मकाल भेद का ग्रहण नहीं माना है।

प्रमाता प्रमेय आदि प्रमा के कारण तो बहुत से हैं। वे सब भी (प्रमा के) 'करण' होते हैं अथवा नहीं।

प्रमाता और प्रमेय के होने पर भी (इन्द्रिय सन्निकर्ष के बिना) प्रमा की उत्पत्ति न होने से, और इन्द्रिय संयोगादि के होने पर अविलम्ब प्रमा की उत्पत्ति होती है इसलिये इन्द्रिय संयोगादि ही (प्रमा का) करण है। (प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण तीनों में) प्रमा के साधकत्व में (समानता होने पर भी या) भेद न होने पर भी इसी उत्कर्ष के कारण (कि इन्द्रिय सयोग के होने पर अभिलम्ब प्रमा उत्पन्न हो जाती हैं) इस (इन्द्रिय संयोगादि) का प्रमाता आदि की अपेक्षा अतिशय होने से और अतिशय युक्त साधक के ही साधकतम होने से वही करण कहा जाता है। इसलिये प्रमा का करण होने से इन्द्रिय संयोगादि ही प्रमाण कहा जाता है और वह प्रमाण चार (प्रकार का) है जैसा कि न्याय सूत्र (में कहा) है। प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान और शब्द (चारों) प्रमाण हैं।

प्रश्न १२—विभिन्न दर्शनों के अनुसार दुःख निवृत्ति की प्रक्रिया पर अपने विचार प्रस्तुत करिये।

गो० ८७, ना० ६२, ६३, दि० ८१, ८४, ८६, वा० ७४, ८०, ६२, आ० ६०, ६२। **(V. Imp.)**

इन विविध तापों से सर्वथा मुक्ति पाने के लिये ऋषियों ने अपने सतत परिश्रम एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन द्वारा जिस साधन को ढूंढ निकाला वह संस्कृत में 'दर्शन' नाम से प्रसिद्ध है। ऋषियों एवं उच्च मननशील मनीषियों के मस्तिष्क की यह वह उपज है जिसके समान जीव, जगत्, मोक्ष एवं ब्रह्म के विषय में अन्य कोई और कहीं भी नहीं हो सकी। यह दर्शन शास्त्र ही सम्पूर्ण धर्मों का आधार है—

प्रदीपः सर्व विधानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्व धर्माणां शश्वदान्वीक्षिको मता ॥

ये दर्शन छः हैं—(१) पूर्व मीमांसा, (२) उत्तर मीमांसा (वेदान्त), (३) सांख्य दर्शन, (४) योग दर्शन, (५) न्याय दर्शन, (६) वैशेषिक दर्शन। इस दार्शनिक धारा का उद्गम ऋग्वेद से हुआ है।

न्याय—यह मुख्य रूप से एक प्रमाणशास्त्र है और ज्ञान के साधन तथा उसकी यथार्थता का निर्णय ही उसका मुख्य विषय है। इसके अनुसार जीव, जगत् और ईश्वर तीन सत्य और सनातन सत्तायें हैं। जगत् ईश्वर की सृष्टि है किन्तु उसकी वास्तविक सत्ता है, वेदान्त के विश्व की तरह वह केवल माया नहीं।

न्याय के अनुसार प्रमाण-प्रमेयादि षोडष पदार्थों से यथार्थ ज्ञान द्वारा निःश्रेयस का अधिगम ही जीवन का परम लक्ष्य है। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' यह सर्वथा मान्य सिद्धान्त है पर वास्तविक ज्ञान होता कैसे है इसकी यथार्थ मीमांसा न्यायशास्त्र में की गई है। न्याय की दार्शनिक दृष्टि 'बहुत्व संवलित यथार्थवाद' है—इस विश्व के मूल में परमाणु, आत्मा, ईश्वर ऐसे नित्य पदार्थ विद्यमान हैं जिनके कारण ही इस जगत् की सत्ता होती है। दृश्य जगत् का समवायि कारण परमाणु है, ईश्वर निमित्त कारण है जो कि अनुमानगम्य है। न्याय का मत है कि मुक्ति में सुख और दुःख दोनों वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। मन साम्यावस्था को प्राप्त हो जाता है। मिथ्या ज्ञान के कारण ही दोष, प्रवृत्ति जन्म तथा दुःख की उत्पत्ति होती है। इस मिथ्या ज्ञान का नाश तत्व-ज्ञान से होता है, तभी मोक्ष होता है।

योग—पतञ्जलि प्रतिपादित योगदर्शन सांख्य की व्यावहारिक पूर्ति करता है। सांख्य में पुरुष के कैवल्य को परामर्श माना गया है। यह कैवल्य सिद्ध विवेक ज्ञान द्वारा साध्य है और विवेक ज्ञान का साधन तत्वाभास है, केवल इतनी ही बात सांख्यकारिका में कही गई है। इसके अतिरिक्त कैवल्य सिद्धि की कोई विस्तृत व्यावहारिक प्रणाली सांख्य में नहीं पाई जाती है। इस अभाव की पूर्ति योगदर्शन के द्वारा होती है क्योंकि उसमें कैवल्य प्राप्ति की व्यावहारिक प्रणाली के विविध अंगों का विस्तृत निरूपण किया गया है। योगसूत्र की परिभाषा के अनुसार समस्त चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम 'योग' है (योगश्चित्तवृत्ति निरोधः)। चित्त प्रकृति का ही एक परिणाम है और सदा चंचल रहता है—लौकिक जीवन और अनुभव के प्रसंग में वह सदा नव-नव पदार्थों का आकार ग्रहण करता रहता है। चित्त के इस विषयाकार रूपग्रहण को ही 'वृत्ति' कहते हैं। वृत्तियों का निरन्तर क्रम ही हमारा जीवन है। कैवल्य अथवा योग की अवस्था में समस्त चित्तवृत्तियों का पूर्ण समाधान हो जाता है इसलिये उसे समाधि भी कहते हैं। इस योग की अवस्था में चित्तवृत्तियों का पूर्ण निरोध होने पर पुरुष समस्त विषयों से अलग होकर, समस्त संसर्गों से मुक्त होकर अपने केवल चैतन्य स्वरूप में स्थित हो जाता है। इसलिये इसे कैवल्य कहते

हैं। इस योग के यम् नियमादि अंग हैं। इन अंगों के अभ्यास से वृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं एवं चित्त एकाग्र हो जाता है। सांख्य के पच्चीस तत्वों के अतिरिक्त योग में छब्बीसवाँ तत्व ईश्वर माना जाता है। इसलिये योग को 'सेश्वर सांख्य' कहते हैं। योग का मत है कि जो पुरुष विशेष क्लेष, कम, विपाक (कर्मफल) और आशय (वासना-संस्कार तथा अविद्या अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाँचों दुखों से मुक्त है वही ईश्वर है। इस प्रकार ऐश्वर्य और ज्ञान की पराकाष्ठा ही ईश्वर है। इसके प्रणिधान से, चित्त के एकाग्र लगाने से अथवा समग्र कर्मफलों के समर्पण से समाधि की सिद्धि होती है।

वैशेषिक—न्याय और वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों में सांख्य और योग के सिद्धान्तों की तरह बहुत समता है। भौतिक विज्ञान की दृष्टि से इसमें सत्य की मीमांसा की गई है। न्याय का प्रधान लक्ष्य अन्तर्जगत् तथा ज्ञान की मीमांसा है किन्तु वैशेषिक का लक्ष्य बाह्य जगत् की विस्तृत समीक्षा करना है। इसके अनुसार द्रव्यादि सात पदार्थ हैं। आत्मा का यथार्थ ज्ञान आत्मेतर पदार्थों के यथार्थ ज्ञान पर निर्भर है। तत्वज्ञान की उत्पत्ति आत्मा तथा आत्मेतर द्रव्यों के परस्पर साधम्य-वैधर्म्य ज्ञान पर ही हो सकती है इस दर्शन के अनुसार निष्काम कर्मों का सम्पादन भी नितान्त आवश्यक है क्योंकि ऐसे कर्मों का अनुष्ठान तत्वज्ञान की उत्पत्ति करता हुआ मोक्ष की उपलब्धि में परम्परया कारण है। भिन्न-भिन्न मार्गों का अवलम्बन करने पर भी इन सबका लक्ष्य एक ही है। अनैतिकता के भीतर रहने वाली एकता को भली-भाँति पहचानकर आत्यन्तिक दुख: निवृत्ति रूप निश्रेयस की प्राप्ति। यही भारतीय तत्व ज्ञान की महती विशेषता है, जिसकी ओर शिव महिम्न में भी पुष्प दन्ताचार्य ने तथा रघुवंश में महाकवि कालिदास ने संकेत किया है—

> **नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।**
> **बहुधाऽप्यागमैर्भिन्ना: पन्थान: सिद्धिहेतव:।**
> **त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे।**

मीमांसा—मीमांसा का अभिधेय अर्थ है 'विवेचन' किन्तु लक्ष्यार्थ में इसका अभिप्राय वेदों के तात्पर्य-विवेचन से है। अतः वैदिक परम्परा की दो प्रमुख धाराओं के प्रतिनिधि एवं कर्म तथा ज्ञान प्रधान ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों के आश्रित होने के कारण मीमांसा के पूर्व और उत्तर ये दो भाग समझे जाते हैं। यह पूर्णतः एक वेदमूलक सम्प्रदाय है। वेद नित्य और सर्वोपरि सत्य है अतः वही सर्वदा प्रमाण है। मीमांसक कहते हैं कि वेद ईश्वर की रचना नहीं वरन् नित्य और स्वतः सत्तावान है। वेद शब्द स्वरूप है अतः शब्द प्रमाण का मीमांसा में विशेष स्थान है, किन्तु इनकी शब्द विषयक कल्पना अन्य दर्शनों से भिन्न है। इनका कथन है कि जीवों के कर्म से एक प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है जो स्वतः कर्मफल का नियमन करती है इसे 'अपूर्व' कहते हैं। जीवों के व्यक्तिगत अपूर्व से जन्म जन्मान्तर के रूप का नियमन होता

है और समस्त जीवों के अपूर्व की समष्टि के कल्प-कल्प में सृष्टि का आविर्भाव होता है। इनके अनुसार सृष्टि या प्रलय कोई कालिक घटनायें नहीं प्रत्युत से इस अनन्त विश्व के निरन्तर वर्तमान क्रम हैं। अतः इसके संचालन के लिये ईश्वर की कल्पना व्यर्थ है।

जगत् की सत्ता मीमांसकों को मान्य है। इसके अतिरिक्त ये लोग स्वर्ग और नरक तथा पुण्य-पाप भी मानते हैं ईश्वर के न मानने पर भी मीमांसा विविध देवताओं की सत्ता स्वीकार करता है। ये देवता भिन्न-भिन्न यज्ञकर्मों के आश्रय हैं। इन्हीं की प्रसन्नता अथवा शान्ति के लिए यज्ञ कर्मों का विधान है। इनके प्रसन्न होने से वित्त पुत्रादि की प्राप्ति होती है।

वेदान्त—शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र चरम सत्य है। जीव और जगत् की सत्ता मिथ्या है। अज्ञान (माया, अविद्या) के कारण जीव और जगत् की सत्ता प्रतीत होती है। किन्तु यह रस्सी में सर्प की प्रतीति के समान असत्य है और जब ज्ञान के द्वारा यह आभास नष्ट हो जाता है तो ब्रह्म मात्र अवशिष्ट रह जाता है। शंकर के अद्वैतवाद के अनुसार यह ब्रह्म निर्गुण है, अनन्त है। किन्तु माया से उपहित होकर जीव का उपास्य एवं जगत् का सृष्टिकर्त्ता है। इसी ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त करना ही प्रत्येक जीव के जीवन का लक्ष्य है। इसी एकात्म्य का अनुभव करना ही आत्मा के वास्तविक स्वरूप का अनुभव है। इसका दूसरा नाम मोक्ष है। जब मोक्ष की दशा में इन सबका स्वप्रकाश चैतन्य स्वरूप अखण्ड ब्रह्म में पर्यवसान हो जाता है। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार यही सच्चे आध्यात्मिक जिज्ञासु की आकांक्षा एवं उसकी नैतिक साधनाओं की सिद्धि है। माया से युक्त होकर यही निर्गुण ब्रह्म सगुण परमेश्वर कहलाता है। विश्व की सृष्टि-स्थित-लय का एकमात्र कारण यही सगुण ब्रह्म है। यही इस सांसारिक प्रपञ्च का सृष्टा, नियन्ता तथा हन्ता है। यह जगत् अनन्त रहस्यों से परिपूर्ण है। इसमें अनन्त जीव हैं। उनके कर्म भिन्न-भिन्न हैं। उनसे फलों के अनुसार उनकी व्यवस्था करना सामान्य ज्ञान-सापेक्ष नहीं। ईसीलिए उसे सर्वदा, सर्वदित् सर्वान्तिर्यामी तथा सर्वशक्तिमान माना जाता है।

शंकराचार्य के अनुसार शरीर तथा इन्द्रिय समूह के अध्यक्ष और कर्मफल का भोग करने वाले आत्मचैतन्य जीव कहते हैं। आस्ति आत्मा जीवाख्य, शरीरेन्द्रिय पञ्जराध्यक्ष, कर्म-फल सम्बन्धी (शा० भा०)। यह एक चेतन तत्व है और हमारे अनुभव का आधार है।

अज्ञान के अंशभूत रजोगुण के द्वारा यही जीव कर्त्ता का भोक्ता बनना है। अविद्यामूलक अहंकार के कारण वह अपने आप को कर्त्ता समझता है और इस कर्त्तव्य-भावना के कारण वह अपने किए हुए कर्मों का फल भोक्ता बनता है इसी के लिए उसे सांसारिक जन्म-मरण में बंधना पड़ता है। किन्तु जब यह अविद्या ज्ञान के द्वारा नष्ट हो जाती है तो स्वात्मानुभव होने के कारण जीव को अपने असीम चैतन्य का साक्षात्कार हो जाता है। वह इन सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

सांख्य—यह द्वैत मत का प्रतिपादक दर्शन है। इसके अनुसार प्रकृति और पुरुष दो मूल तत्व हैं। इन्हीं के परस्पर सम्बन्ध से जगत् का आविर्भाव होता है। इनमें प्रकृति जड़ है, एक है। किन्तु पुरुष चेतन है और अनेक हैं। यह सत्कार्यवाद का समर्थक है। सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है। इनमें वैषम्योत्पत्ति होते ही सृष्टि होती है। किन्तु यह सृष्टि कोई नवीन उत्पत्ति नहीं वरन् कारण में अन्तर्निहित सम्भावनाओं का कार्यरूप में उद्भूति मात्र है। सांख्य मत के अनुसार कारण तत्व में कार्य पदार्थ अव्यक्त रूप से निहित हैं। कारण प्रक्रिया उस अव्यक्त पदार्थ को अभिव्यक्ति मात्र है। सांख्य के अनुसार आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ये तीन प्रकार के दुःख हैं। इन सबका कारण अविद्या है। यद्यपि पुरुष अपने मूलरूप में शुद्ध चैतन्य मात्र है। वह निर्गुण एवं जगत् का निरपेक्ष साक्षी मात्र है। किन्तु प्रकृति के संयोग में अविद्यावश होकर वह अपने स्वरूप को भूल जाता है और अपने को कर्म का कर्त्ता समझने लगता है तथा कर्म का भोक्ता बनता है अर्थात् अपने को कर्त्ता समझने के कारण उसे जन्म-जन्मान्तर में दुःख रूप कर्मफल भोगने पड़ते हैं। इस जन्म-कर्म परम्परा का नैरन्तर्य ही पुरुष का बन्धन है एवं इससे मुक्ति ही उसका मोक्ष (कैवल्य) है।

ये बन्धन और दुःख अविद्या जन्य हैं। अतः विद्या अथवा ज्ञान द्वारा ही कैवल्य सम्भव है। सांख्य के अनुसार पुरुष को अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानना ही ज्ञान है। पुरुष का स्वरूप विशुद्ध, राग क्रियाहीन चैतन्य है। वह साक्षी मात्र है, कर्त्ता तथा भोक्ता नहीं। जब उसे अपना यह शुद्ध साक्षी स्वरूप परिचित हो जाता है तो उसका अहंकार नष्ट हो जाने के कारण वह अपने आपको कर्त्ता नहीं मानता, कर्तृत्वभावना के नष्ट हो जाने से भोक्तृत्व भी नष्ट हो जाता है। अतः वह जन्म-जन्मान्तर में कर्मफल का भागी नहीं बनता। इस प्रकार जब पुरुष को अपने शुद्ध साक्षी चैतन्यस्वरूप का अभिज्ञान हो जाता है। अतः वह जन्म-जन्मान्तर में कर्मफल का भी नवभागी नहीं बनता। इस प्रकार जब पुरुष को शुद्ध साक्षी चैतन्यस्वरूप का अभिज्ञान हो जाता है तो वह जन्म कर्म परम्परा के चक्र से मुक्त हो जाता है। जन्म-चक्र ही पूर्वोक्त त्रिविध दुःखों का कारण है। अतः उससे मुक्त होकर वह उन दुःखों से भी मुक्ति पा जाता है और अपने शुद्ध केवल स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही मोक्ष की अवस्था सांख्य में कैवल्य कहलाती है।

चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शन—उक्त छः दर्शन वेदों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को प्रामाणिक तथा सर्वथा सत्य मानते हैं। अतः इनको आस्तिक दर्शन कहते हैं। इनके अतिरिक्त चार्वाक, जैन और बौद्ध ये तीन नास्तिक दर्शन भी हैं। ये वेदों को प्रमाण नहीं मानते। इनमें से चार्वाक का चलाया हुआ लोकायत मत चार्वाक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। यह नितान्त भूतवादी है और सांसारिक सुख को ही जीवन का अन्तिम ध्येय बतलाता है। यद्यपि इनके कोई विशेष ग्रन्थ उपलब्ध नहीं

होते, फिर भी दर्शन ग्रन्थों में जहाँ भी इनके सूत्र या निर्देश मिलते हैं उनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि ये लोग अनुमान या शब्द प्रमाण की सत्ता नहीं मानते। इनके मत से इस जगत् की उत्पत्ति एवं प्रलय स्वभावतः ही होते हैं। ये लोग मरण को ही मोक्ष मानते हैं—इनके लिये स्वर्ग-नरक नामक कोई अन्य लोक नहीं संसार में जो सुखी है, वह स्वर्ग भोग रहा है और जो दुःखी है वह नरक भोग रहा है। इस प्रकार ये लोग आधिभौतिक सुख के अनुयायी हैं 'खाओ पियो और मौज उड़ाओ' यह इनका सिद्धान्त है—

यावज्जीवेत्सुखं जीवेद ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुतः।

ये लोग वेदों की निन्दा करते हैं। इसीलिये इन्हें नास्तिक कहते हैं। **(नास्तिको वेदनिन्दिका)।**

दूसरा नास्तिक दर्शन जैन दर्शन है। यद्यपि यह ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता फिर भी श्रेय और शिव की वास्तविकता में इसका विश्वास है। कर्म और अहिंसा के सिद्धान्त इसके आधार हैं। कर्म जीवन का नैतिक नियम है और अहिंसा मनुष्य का सर्वोत्तम गुण है। अन्य भारतीय दर्शनों की भाँति जैन दर्शन से भी मोक्ष को जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। इसकी सज्ञा 'निर्वाण' है।

तीसरा नास्तिक दर्शन बौद्ध दर्शन है। इस सम्प्रदाय के १८ सम्प्रदायों में से चार अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—

१. वैभाषिक—बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद।
२. सौत्रान्तिक—बाह्यार्थानुमेयवाद।
३. योगाचार—विज्ञानवाद।
४. माध्यमिक— शून्यवाद।

बुद्ध एक दार्शनिक सिद्धान्त के संस्थापक की अपेक्षा एक नैतिक धर्म के प्रवर्त्तक अधिक थे। जीवन और जगत् की समस्याओं के प्रति उनका दृष्टिकोण चिन्तात्मक की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक था। इसलिये इस दर्शन में तात्विक विवेचन इतना अधिक नहीं। इनके अनुसार संसार दुःखमय है किन्तु इस दुख की निवृत्ति निर्वाणावस्था में सम्भव है।

प्रश्न १३— सांख्य एवं वेदान्त के पुरुष और आत्मा पर तुलनात्मक टिप्पणी दीजिये।

आ० ८७, ९०, ९३, का० ८८, मे० ९१, दि० ८६, ९०, बना० ८८, ९१, ९३, गो० ८७, ९०, ९३।

(M. Imp.)

वेदान्त दर्शन के अनुसार आत्मा—ऋग्वेद में आत्मा शब्द श्वास के अर्थ में कई स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है (जैसे वरुण की आत्मा)। Deusou ने इसे दो सार्वनामिक (Fronomical) धातुओं से निष्पन्न माना है उनके अनुसार इनका मूल अर्थ

'यह मैं' है। आचार्य शंकर ने कठोपनिषद् भाष्य में एक प्राचीन श्लोक उद्धृत करते हुये आत्मा के चार व्युत्पत्तिमूलक अर्थों का उल्लेख किया है—

यदाप्नोति यदादत्ते, यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते।

आत्मा नित्य प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप है। जाग्रत और स्वप्नावस्था में तो वह बाह्य और आन्तरिक विषयों का ज्ञान रखता ही है। सुषुप्ति में भी 'मैं खूब सोया' यह स्मृति इसका स्पष्ट प्रमाण है, क्योंकि पूर्व अनुभव का मानस प्रत्यक्ष ही स्मृति है। चैतन्य होने के कारण यह सभी प्रत्ययों का साक्षी है। आत्मा को प्रकाशित करने के लिये किसी की आवश्यकता नहीं है। वह 'प्रज्ञान धन' है। आत्मा का स्वरूप आनन्द है। जाग्रत और स्वप्नावस्था के क्षणिक आनन्द उस आनन्द घन के अंशमात्र है। सुषुप्ति में भी आत्मा का 'आनन्दत्व' उससे पृथक् नहीं होता। उस समय चैतन्य से प्रदीप्त होती हुई अज्ञान (माया) की अत्यन्त सूक्ष्म वृत्तियों से वह आनन्द का अनुभव करता है। माया की उपाधियों से स्वतन्त्र होकर वह अपने अखंड आनन्दस्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित प्रसिद्ध 'शाण्डिल्य विद्या' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के उद्घोष से प्रारम्भ होती है और आत्मा को अपने हृदय में स्थित, अतः छोटी से छोटी तथा सम्पूर्ण संसार की भी अभिव्यापक, अतः बड़ी से बड़ी बताती हुई ब्रह्म और आत्मा की एकता का प्रतिपादन करती हुई समाप्त होती है।

'एष म आत्मा अन्तर्हृदयेऽणीयान् यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा……एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात् ज्यायानेभ्यो लोकेभ्य…एष य आत्माऽन्तर्हृदय एतद् ब्रह्म तमितः प्रेत्य अभिसम्भविताऽस्मि इति स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीति…'।

जीव की सक्रियता बुद्धि या अहंकार की उपाधि के कारण है। सुख-दुःख धर्म-अधर्म, संस्कार आदि जीव के ही धर्म हैं, आत्मा के नहीं। मनुष्य के शरीर के अन्दर विद्यमान आत्मा ही सम्पूर्ण जगत् का आधार है। यह वह नित्य अनुपहित चैतन्य है जो सम्पूर्ण व्यावहारिक दृष्टि का आश्रय है—

'आत्मानमेव निर्विशेषं ब्रह्म विद्धि आत्मस्वरूपं निरतिशयं भूमाख्यं ब्रह्मेति विद्धि।'

सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष—प्रकृति आदि से भिन्न एक पुरुष नाम का पदार्थ है, प्रकृति या उसके कार्य ही पुरुष नहीं हैं, क्योंकि संघात=समुदाय दूसरे के लिये होता है। यदि एक संघात दूसरे के लिये हो तो यह संघात भी संघात होने से दूसरे के लिये होगा। इसलिये सघात जिसके लिये है वह असहत एक केवल और निर्गुण है। अतः त्रिगुणादि से विपरीत होने के कारण वह पुरुष नित्यैगुण है, क्योंकि त्रैगुण्य में भी सहतत्व रहता है। जहाँ सहत्व न होगा वहाँ त्रैगुण्य भी न होगा। अतः पुरुष त्रिगुणात्मक नहीं है। इसी प्रकार जो त्रिगुणात्मक

होता है वह अधिष्ठान होता है। अधिष्ठान को अधिष्ठाता की आवश्यकता होती है। वह अधिष्ठाता भी यदि त्रिगुणात्मक न होगा तो अधिष्ठाता न रहकर अधिष्ठान रह जायेगा। अतः वह अधिष्ठाता रूप पुरुष अधिष्ठान से भिन्न है। इसी प्रकार पुरुष में भोक्तृत्व रहता है, भोगत्व नहीं। भोग्य बुद्धि आदि पदार्थ सुख दुःख स्वरूप या अनुकूल अथवा प्रतिकूल रूप से अनुभूय मान प्रत्येक को ज्ञात होते हैं, वे सुख दुःखात्मक के लिये ही नहीं होते, किन्तु जो सुख दुःख स्वरूप से भिन्न है उसके लिये होते हैं और वह आत्मा है। अथवा बुद्धि आदि पदार्थ भोग्य या दृश्य कहलाते हैं। इनकी भोग्यता या दृश्यता बिना भोक्ता या दृष्टा के नहीं बन सकती। वह द्रष्टा दृश्य से अतिरिक्त है। वही आत्मा है। एवं कैवल्य (मोक्ष) प्राप्ति के लिये शास्त्र तथा ऋषि मुनियों की उपदेश रूप प्रवृत्ति होती है। कैवल्य दुःखमय की सर्वथा शान्ति ही का नाम है। प्रकृति आदि रूप आत्मा दुःखादि रूप स्वरूप से कभी छुट नहीं सकता। अतः दुख शान्ति जहाँ हो वह आत्मा प्रकृति से भिन्न ही माननी चाहिये। इस प्रकार आत्मा बुद्धि आदि से भिन्न है, यह सिद्ध हुआ।

पुरुष अनेक हैं क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का जन्म मरण पृथक्-पृथक् काल में होता है। एवं प्रत्येक व्यक्ति की इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। यह जन्म मृत्यु और इन्द्रिय भेद की व्यवस्था यदि सारे शरीरों में एक-एक ही आत्मा हो तो नहीं बन सकती, तब एक के पैदा होने में सब जन्म लेंगे और एक के मृत्यु प्राप्त करने पर सबकी मृत्यु होगी तथा एक के अन्धे होने पर सब अन्धे हो जायेंगे। यदि एक ही आत्मा में आत्मा का देह आदि उपाधि के कारण भेद माना जायेगा तो हाथ, पैर, अंगुली एवं स्तन आदि रूप उपाधि के भेद से एक ही शरीर में हाथ के कट जाने पर आत्मा की मृत्यु स्तनोत्पत्ति होने पर नवीन अवशेष उपाधि युक्त पुरुष का जन्म मान लेना चाहिये। अतः सब शरीरों में एक पुरुष नहीं है। इसी प्रकार सब शरीरों की एकदम प्रवृत्ति नहीं होती। यह प्रवृत्ति का पार्थक्य आत्मा की अनेकता सिद्ध करता है। इसी प्रकार तीनों गुणों का विपर्यय = न्यूनाधिक भाव अर्थात् कोई शरीर सत्वगुण के आधिक्य वाला कोई रजोगुण प्रधान है। कोई तमोगुण की बहुलता रखता है। यदि सत्वगुण प्रधान देव सृष्टि, रजोगुण प्रधान मनुष्य सृष्टि एवं तमोगुण प्रधान पशु पक्षी, कीट, पतंग की सृष्टियों का पुरुष एक हो तो यह त्रैगुण्य भेद नहीं हो सकता किन्तु है। अतः आत्मा की अनेकता ही सिद्ध करता है।

सांख्य दर्शन एवं वेदान्त की तुलना—सम्पूर्ण कार्य का उत्तरदायित्व प्रकृति पर ही है। पुरुष सर्वथा उससे निर्लिप्त रहता है। वह केवल साक्षिमात्र है। वह अहंकार के कारण अपने को कर्त्ता समझ बैठता है। सांख्यकारिका में यही भाव स्पष्ट करते हुये कहा है 'साक्षित्वमस्य पुरुषस्य' कैवल्यरमाध्यस्थ्यं द्रष्टत्वमकर्तृभावञ्च अर्थात् पुरुष केवल साक्षी ही है वह मध्यस्थ द्रष्टा है, कर्त्ता नहीं, इसी को और भी स्पष्ट करते हुये एक जगह कहा है—

मायावी ऐन्द्रजालिक अपनी माया में अनेक सप्राण और निष्प्राण पदार्थों को जन्म देता और समेट लेता है, इसी प्रकार अविद्या अथवा माया से ईश्वर संसार और उसके विविध नाम रूपमय प्रपंच को जन्म देता है और विलीन कर लेता है। यही माया या अविद्या जगत् का उपादान कारण है।

परन्तु क्या शंकर के यहाँ भी माया और अविद्या एक ही चीज है, क्या ये दोनों पर्यायवाची शब्द एक ही अभिधेयार्थ प्रस्तुत करते हैं। आदि प्रश्नों का ठीक समाधान करने के लिये हमें उनकी मौलिक रचनाओं पर दृष्टि डालनी आवश्यक है।

वेदान्त सूत्र द्वितीयाध्याय की उत्थानिका में शंकर लिखते हैं, "प्रथमाध्याये सर्वज्ञः सर्वेश्वरो जगत् उत्पत्तिकारणं मृत्सुवर्णादय इव घटरुचकादिनाम। उत्पन्नस्य जगतो नियन्तृत्वेन स्थितिकारणं मायावीव मायया:' यथा स्वयम्प्रसारितयामायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यतेऽवस्तुत्वात् एवं परमात्मा संसारमायया न संस्पृश्यते यथा च मायावी स्वयं प्रसारितां मायामिच्छयानाया-से वोसंपहरित" आदि। इस प्रसंग में आया हुआ माया शब्द दृश्यमान किन्तु अयथार्थ या अवस्तु रूप पदार्थों के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। संसार और यह सब प्रपंच माया कहा जा सकता है। संक्षेप से प्रकृकि का यह दृश्यमान जगङ्वाल ही माया है। इन सब उदाहरणों में माया अथवा अविद्या नहीं कहा गया। इससे यह संकेत स्पष्ट मिलता है कि माया और अविद्या सांसारिक व्यवहार में दो पृथक्-पृथक् वस्तुओं के नाम हैं। कम से कम यह तो कहा जा सकता है कि शंकर के यहाँ ये दोनों संज्ञायें भिन्न-भिन्न अभिधेयों के लिये हैं और ये पर्यायवाची नहीं हैं।

वेदान्त सूत्र के भाष्य की प्रस्तावना में शकर ने कहा है—'बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्यामयोपलब्धो महाजनसमागम न आस्ति मम महाजनसमागमो निद्राग्लानं तु मे मनो बभुव तेनैषा भ्रान्तिरुद्बभूतेवेति एवं मायादिष्वपि भवति यथार्थ बाधः' अर्थात् स्वप्न में पाई हुई चीजें जगने पर नष्ट हो जाती हैं। (वह सोचता है) मेरे लिये जो महाजनों की प्राप्ति हुई थी वह झूठ ही थी क्योंकि वह अब नहीं है। निद्रा के वशीभूत मेरे मन की वह एक भ्रान्तिमान थी। इसी प्रकार मायादि के विषय में (उस माया का) नाश होता है। इस प्रसंग से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि माया उन दृश्यमान पदार्थों को ही कहते है जो ज्ञान के आलोक में अपनी वास्तविक सत्ता खो देते हैं। यदि शकर मतानुसार अविद्या और माया एक ही हों तो इन प्रसंगों में कभी न कभी अविद्या शब्द का प्रयोग भी सुन पड़ता है, परन्तु ऐसा नहीं। द्वितीयाध्याय के प्रथम पाद के चौदहवें सूत्र में शकर ने अविद्या शब्द का कई तरह प्रयोग किया है। माया और अविद्या का भेद स्पष्ट करने के लिये वे कहते हैं। सर्वज्ञ ईश्वर के आत्मस्वरूप में अविद्याजनित नाम रूपात्मक (पदार्थ) उसन भिन्न या आभन्न नहीं कह जा सकते। ससार की उत्पत्ति का

कारण माया रूप शक्ति प्रकृति है इत्यादि श्रुति स्मृति ग्रन्थों का कथन लिया जायेगा। अविद्या से उत्पन्न नाम रूप उपाधि का आधार ईश्वर उसी प्रकार से है, जैसे घड़े, करवे आदि की उपाधि का आधार आकाश। एक तो नाम रूपात्मक प्रपंच माया शक्ति ही है और दूसरी यह नाम रूपात्मक संसार अविद्याजनित है। इस प्रकार बड़ी सरलता से अविद्या और माया में कारण कार्य का सम्बन्ध बैठाया जा सकता है। यदि विचार करके देखा जाए तो ईश्वर की उपाधि अविद्या ही माया की जननी है। माया का अर्थ अन्य दार्शनिकों ने प्रकृति कहा है। उसे शंकर के यहाँ माया और जिसे वे अव्यक्त कहते हैं। वह वहाँ अविद्या है। ब्रह्म सूत्रों के शकरभाष्य में अविद्या प्रत्युपास्थिपितनाम रूप मायावेशवशेन अर्थात् अविद्या के कारण उद्भूत नाम रूपात्मक माया के कारण आदि तो इसमें कोई भी सन्देह की गुंजाइश ही नहीं रह जाती कि अविद्या कारण है और माया उसका कार्य।

शंकर ने मायावाद शब्द का प्रयोग किया है, उसका सामान्य अर्थ अयथार्थता से युक्त लिया जाता है। उदाहरण के लिये निम्न उदाहरण देखिये—'अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्त शब्द निर्देणाया परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिर्यस्यां स्वरूप-प्रतिबोधराहिता: शेरसे संसारिणो जीवा: अर्थात् अविद्या जो सबका कारण है जिसे अव्यक्त कहा जाता है जो परमेश्वर के अधीन है। वह अयथार्थरूपा सुषुप्ति अवस्था है जिसमें कि अपने ज्ञान को खोकर सांसारिक जीव सोया करते हैं। यहाँ पर मायामयी अविद्यात्मिकता बीज शक्ति और महासुप्ति के विशेषण रूप में प्रयुक्त है, स्वतन्त्र संज्ञा के रूप में नहीं। यहाँ माया का सामान्य अर्थ पारिभाषिक ही है। प्राचीन उपनिषदों में भी कहीं-कहीं (कठ० ३·११) में माया शब्द का प्रयोग अव्यक्त के पर्यायवाची करके प्रयोग हुआ है। परन्तु इससे वह सिद्धान्त प्रत्याख्यात नहीं हो जाता है कि अविद्या मूलकारण अव्यक्त और माया उसका कार्य प्रकृति है।

यह अविद्या समष्टि चेतन की उपाधि है और संसार का उत्पादन कारण है। कुछ सदियों बाद शंकर के अनुयायियों ने अविद्या और माया में एक अन्य भेद की प्रतिष्ठा की ओर माया को ईश्वर की उपाधि तथा अविद्या को जीव की उपाधि करके घोषित किया है। जैसा कि पंचदशी के प्रणेता स्वामी विद्यारण्य के प्रथमाध्याय में है, उल्लेख किया है।

सत्वशुद्धयविशुद्धिभ्यां माया विद्ये च ते मेते।
माया बिम्बो वशी कृत्य नां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः॥
अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वै चित्र्यादनेकधा।
साकारणशरीरं स्यात् प्राज्ञस्तत्राभिमानवान्॥

पंचदशी तत्वविवेकः १७–१७

भावार्थ यह है कि शुद्ध तत्व प्रधाना माया है और अशुद्ध सत्व प्रधाना या मलिन सत्व प्रधान अविद्या। माया में पड़ा हुआ बिम्ब (चित्तशक्ति) जो उस माया

को अपने वश या नियन्त्रण में रखता है वह सर्वज्ञ ईश्वर है। अविद्या के नियन्त्रण में रहने वाला (जीव) उससे भिन्न है जो व्यष्टिगत विचित्रताओं से अनेक प्रकार का है। यही अविद्या उसका कारण शरीर है और उस कारण का अभिमानी (जीव) इस अवस्था में प्राज्ञ कहलाता है।

प्रकृति से आशय है जगत् का कारण। इसका स्वरूप है सत्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था। साम्यावस्था से आशय है समानुपातिक स्थिति। जैसे शरीर के स्वस्थ रहने के लिये वात, पित्त और श्लेष्मा की समानुपातिक स्थिति अपेक्षित होती है, उसी प्रकार प्रकृति को स्वरूप में रहने के लिये गुणों (सत्व, रजस्, तमस्) की स्थिति अपेक्षित है। अतएव कहा गया है, 'साम्यावस्थापन्ना गुणा एवं प्रकृतिः' अर्थात् साम्यावस्था को प्राप्त गुण ही प्रकृति है। इस प्रकृति की सत्ता अनुमान से ही प्रमाणित होती है। अतः इसका दूसरा नाम ही अनुमान हो गया है। सत्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृतिः इसका आशय यह है कि मूल कारण सत्व, रजस् एवं तमस् की साम्यावस्था अर्थात् समानुपातिक स्थिति है। सत्व का अर्थ है स्थिति शक्ति (Power to Existence), रजत का अर्थ है संयोजक शक्ति (Power of Attraction), तमस का अर्थ है वियोजक शक्ति (Power of Separation), जब ये शक्तियाँ समानुपातिक रूप में न रहकर विषम अनुपात में रहती हैं तब विकृति अर्थात् कार्यावस्था आती है। इस समय संयोजक शक्ति की प्रबलता से जन्म, वियोजक शक्ति की प्रबलता से विनाश तथा स्थित्त शक्ति की प्रबलता से वस्तु की स्थिति होती है क्योंकि प्रत्येक वस्तु प्रथम उत्पन्न होती है, फिर कुछ काल तक रहती है, अनन्तर नष्ट हो जाती है।

अतः सांख्य के दृष्टिकोण से गुण द्रव्य आदि पदार्थ उसी एक मूल कारण के विभिन्न रूप हैं अन्य कुछ नहीं। संयोग वियोग आदि उसके स्वभाव ही इसके वियमन के लिये किसी अन्य नियन्ता की आवश्यकता नहीं। गुणों के विषय में बताया गया है कि वे प्रकाश क्रिया तथा स्थितिशील हैं। वर्तमान विज्ञान सम्मत की भी यही दशा है।
